भारत की आजादी के लगभग छह दशकों के बाद भी भारतीय जनसमूह का बड़ा भाग अमानवीय गरीबी से ग्रस्त है। क्या यह राज्य की भूमिका को निरंतर कम करने के साथ आर्थिक उदारीकरण के कारण हो रहा है? भारत के एक अग्रणी सैद्धांतिक अर्थशास्त्री द्वारा लिखी गई यह पुस्तक जोरदार दलील देती है कि इस मार्ग का अनुसरण गलत है। अपने तर्क के क्रम में लेखक ने अनेक परंपरागत आर्थिक प्रस्थापनाओं को धराशायी किया है जो शिक्षा जगत, नीति निर्माताओं, मीडिया और अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों पर हावी हैं। चूंकि पुस्तक सुबोध एवं गैर तकनीकी ढंग से लिखी गई है इसलिए सभी जागरूक नागरिकों के लिए यह आसानी से ग्राह्य होगी। पुस्तक सशक्त तरीके से दिखलाती है कि निकट भविष्य में पूर्ण रोजगार से युक्त ऐसा समाज क्यों संभव है जहां सभी नागरिकों को प्रतिष्ठा प्राप्त हो। यह मात्र स्वप्न राज्य (यूटोपिया) नहीं है। यह वर्तमान परिदृश्य में रोजगार की सुनिश्चितता की संभाव्यता संबंधी तात्कालिक बहस में एक प्रमुख योगदान होगी, ऐसी आशा है।

अमित भादुड़ी–(जन्म 4 अक्टूबर, 1940) तत्काल इटली के पाविया विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ प्रोफेसर (जिसे "प्रोफेसर आफ क्लियर फेम" कहा जाता है और जिसका चयन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होता है) हैं। वे एक यशस्वी विद्वान हैं जिन्होंने वर्ष 1967 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय इंग्लैंड से अर्थशास्त्र में डाक्टरेट की डिग्री हासिल की। प्रो. भादुड़ी ने अपना अध्यापन कार्य 1963 में कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कालेज में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में शुरू किया और बाद में भारत तथा विदेश के विश्वविद्यालयों के संकाय में काम किया है, जिनमें जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली; इंस्टीट्यूट आफ एडवांस्ड स्टडीज, बोलोनिया यूनिवर्सिटी, इटली; नार्वेजियन यूनिवर्सिटी आफ साईंस एंड टेक्नोलोजी, नार्वे; विस्सेनशाफ्ट्सकोल्लेज सु बर्लिन (इंस्टीट्यूट आफ एडवांस्ड स्टडीज, बर्लिन), इंडियन इंस्टीट्यूट आफ मैनेजमेंट, कलकत्ता, आदि हैं। प्रो. भादुड़ी अनेक विद्वतापूर्ण कृतियों के लेखक हैं और उन्होंने अनेक शोध पत्र लिखे हैं। उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं : दी इकानमिक स्ट्रक्चर आफ बैकवार्ड एग्रिकल्चर, मैक्रोइकानमिक्स : द डायनामिक्स आफ कम्मोडिटी प्रोडक्शन, अनकंवेंशनल इकानमिक एस्सेज, दी इंटेल्लिजेंट पर्सन्स गाइड टू लिबरेलाइजेशन (सह लेखक दीपक नैय्यर), आदि। अनुवादक **डा. गिरीश मिश्र** अर्थशास्त्र के प्राध्यापक व कई पुस्तकों के लेखक हैं। उनकी प्रमुख रचनाएं हैं–एग्रेरियन प्राबलेम्स आफ परमानेंट सेटलमेंट, सोशियोलोजी एंड इकानमिक्स आफ कास्टिज्म इन इंडिया, आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास, आदि।

₹ 50.00 ISBN 978-81-237-4651-7

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

प्रतिष्ठापूर्ण विकास पूर्ण रोजगार के समर्थन में अमित भादुड़ी

प्रतिष्ठापूर्ण विकास

पूर्ण रोजगार के समर्थन में

अमित भादुड़ी

अनुवाद
गिरीश मिश्र

प्रतिष्ठापूर्ण विकास

पूर्ण रोजगार के समर्थन में

लोकोपयोगी सामाजिक विज्ञान

प्रतिष्ठापूर्ण विकास
पूर्ण रोजगार के समर्थन में

अमित भादुड़ी

अनुवाद
गिरीश मिश्र

एकः सूते सकलम्

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

अपने भाई अमरनाथ भादुड़ी
की
प्रेममय याद को समर्पित

ISBN 978-81-237-4651-7

पहला संस्करण : 2006
छठी आवृत्ति : 2011 *(शक 1932)*
मूल © अमित भादुड़ी, 2005
© हिंदी अनुवाद : नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2005
Development with dignity *(English)*
प्रतिष्ठापूर्ण विकास *(हिंदी)*
₹ 50.00
निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज-II
वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070 द्वारा प्रकाशित

विषय सूची

	प्रस्तावना	*नौ*
1.	प्रतिष्टापूर्ण आर्थिक विकास : यूटोपिया नहीं	1
2.	बाजार की सफलता और विफलता : कैसे, कहां, कब?	12
3.	अर्थव्यवस्था और राज्यतंत्र का परस्पर प्रभाव	22
4.	प्रतिष्ठापूर्ण विकास : निर्धारक मुद्दे	32
5.	एक अलग तरह के विकास हेतु	54
6.	सार्वजनिक वित्त का 'सरकार–यह नहीं कर सकती' सिंड्रोम	77
	संदर्भ और आगे पढ़ने के लिए सामग्री (पाठक के मार्गदर्शन के लिए संक्षिप्त टिप्पणियों सहित)	104

यह पुस्तक एक वैकल्पिक दृष्टि प्रस्तुत करती है, और इस प्रक्रिया को प्रारंभ करने के लिए आवश्यक कुछ कदम भी बतलाती है। यह सब स्पष्ट, गैर तकनीकी शब्दावली में रखा गया है।

हम केवल एक यूटोपिया ही नहीं रचते, बल्कि आर्थिक तर्क और सांख्यिकीय तथ्यों के आधार पर, पुस्तक की दलील है कि अपनी सभी खामियों के बावजूद हमारी राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत भी विकास की एक वैकल्पिक राह संभव है। इस पुस्तक का उद्देश्य इस राह का खाका प्रस्तुत करना है। इस राह की मंजिल है यह सुनिश्चित करना कि भारत के सब नागरिक आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सम्मान के साथ रहें। यह पुस्तक के शीर्षक **प्रतिष्ठापूर्ण विकास** से स्पष्ट है।

यह हमारे लिए सबसे बड़ी चुनौती है। इस चुनौती का सामना करना हमारे जनतंत्र की बाध्यता और हमारे समय का तकाज़ा है। अब तक इस चुनौती को इसलिए नहीं स्वीकार किया गया है कि हम आर्थिक विकास के परंपरागत विमर्श के परे जाने में असमर्थ रहे हैं। इसके बावजूद बौद्धिक कार्य का उद्देश्य इस प्रकार के विकल्प की कल्पना करने में समर्थ होना तथा यह बतलाना है कि उसे कैसे संभव बनाया जाए। यह पुस्तक ठीक यही काम करती है।

इस पुस्तक के लेखन में मुझे मधु भादुड़ी से निरंतर सहायता और प्रोत्साहन मिला। उन्होंने इस बात का मुझे कायल बनाया कि यह गैर तकनीकी पुस्तक लिखी जानी चाहिए। कहना न होगा कि उनके उत्साह के बिना यह पुस्तक नहीं लिखी जाती। अरुणा राय, निखिल डे, ज्यां द्रेज और अरविंद केजरीवाल ने अधिकांशतया बिना जाने, अपनी सक्रियता और यदा-कदा विचार-विमर्श द्वारा इस पुस्तक में उठाए गए अनेक मुद्दों पर सुव्यवस्थित रूप से सोचने को मजबूर किया। विपिन चंद्र हमेशा ही अत्यंत उत्साही और मददगार रहे। मैं इन सबका अत्यंत कृतज्ञ हूं। यद्यपि यहां प्रस्तुत विचारों और तर्कों के लिए केवल मैं ही पूरी तरह से जिम्मेदार हूं।

नई दिल्ली,
14 सितंबर, 2005

–अमित भादुड़ी

प्रतिष्ठापूर्ण आर्थिक विकास : यूटोपिया नहीं

एक प्राचीन सभ्यता और दीर्घ इतिहास वाला एक पुराना देश, भारत, 1947 में एक अपेक्षाकृत युवा राष्ट्र राज्य के रूप में सामने आया। यही वह वर्ष था जब भारत ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से महात्मा गांधी के नेतृत्व में चले मुख्यतया अहिंसक ऐतिहासिक उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के परिणामस्वरूप आजाद हुआ। राष्ट्रवाद की विचारधारा जो सभी उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों की चालक शक्ति थी भारत में, विशेष रूप से एक जटिल अवधारणा है। भारतीय राष्ट्रवाद को एक विस्मयकारी विविधता के आधार पर गढ़ना पड़ा था। भारत अत्यधिक विविधतासंपन्न देश है। न केवल भूगोल और जलवायु की दृष्टि से बल्कि संभवतया धर्म, भाषा और मानवजातीयता की दृष्टि से भी संसार का सबसे विविधतापूर्ण देश है। भारत की जनसंख्या (वर्ष 2004 में) करीब एक अरब सात करोड़ है जिसमें 11 प्रतिशत मुसलमान हैं। संख्या की दृष्टि से हिंदुओं का सबसे बड़ा धार्मिक समूह (80.9 प्रतिशत) है। साथ ही कई अन्य धार्मिक समूह जैसे ईसाई (2. 3 प्रतिशत), सिक्ख (1.9 प्रतिशत), बौद्ध (0.8 प्रतिशत) और जैन (0.4 प्रतिशत) महत्वपूर्ण धार्मिक अल्पसंख्यक समूह हैं। इसके अतिरिक्त संख्या की दृष्टि से दबदबा रखने वाले हिन्दू जाति व्यवस्था के आधार पर श्रेणियों में बंटे हैं। उसमें "जातिच्युतों" या दलितों के लिए कोई स्थान नहीं है। स्वतंत्रता के लगभग 60 वर्षों के बाद भी और इस शताब्दियों पुराने उत्पीड़न को समाप्त करने

के लिए बने अनेक कानूनों के बावजूद यह भारत में अन्याय के बड़े स्रोतों में से एक बना हुआ है। इसी प्रकार अनेक जनजातियां, जिनमें भारत के कुछ प्राचीनतम निवासी भी शामिल हैं, अब भी उत्पीड़ित हैं और लिखित कानूनों के बावजूद बुरी तरह शोषित हैं।

भारत अत्यधिक भाषाई विविधता का देश भी है। यहां लगभग सोलह प्रमुख भाषाएं हैं जिनकी प्रायः अलग-अलग लिपियां हैं। साथ ही पांच सौ से अधिक बोलियां हैं। यद्यपि बहुभाषाई भारत ने संख्या की दृष्टि से प्रबल हिंदी को भारतीय राज्य की भाषा के रूप में चुना फिर भी वह प्रशासनिक संचार के लिए अखिल भारतीय संपर्क भाषा के रूप में और उच्च शिक्षा देने के लिए अंग्रेजी पर निर्भर बना रहा। इससे भाषाई विभाजन और अवसरों की असमानता अंग्रेजी जानने और न जानने वालों के बीच आ गई है।

आधुनिक राजनीतिक इतिहास में यह लगभग अनुपम परिघटना है कि अपने बहुधार्मिक, बहुभाषाई, बहुमानव जातीय और बहुसांस्कृतिक चरित्र से उत्पन्न अनेक तनावों के बावजूद यह विशाल देश कालक्रम में एक राष्ट्रराज्य के रूप में अपने को सुदृढ़ बनाने में सफल रहा है। स्वतंत्रता के आरंभिक वर्षों के दौरान उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष का समान क्रियाकलाप केंद्र देश को एक सूत्रबद्ध कर पाया। विदेशी शासन से आजादी के कारण उत्पन्न एक बेहतर आर्थिक और अपेक्षाकृत अधिक मुक्त राजनीतिक जीवन की आशा ने इस प्रक्रिया में उत्प्रेरक का काम किया। आजादी के बाद के छह दशकों के दौरान इनमें से कुछ आशाएं और आकांक्षाएं आंशिक रूप से पूरी हुई हैं जबकि अन्य पर पानी फिर गया है। स्वातंत्र्योत्तर भारत की कहानी शानदार सफलता और अक्षम्य विफलताओं का मिश्रण है।

इस विशाल और गरीब देश ने जहां भाषा, धर्म एवं मानव जातीयता की दृष्टि से अपार विविधता है, स्वतंत्रता के बाद के छह दशकों के दौरान धीरे-धीरे अपनी जनतांत्रिक व्यवस्था को सुदृढ़ कर लिया है। कोई भी मानक क्यों न लें, यह एक अद्‌भुत उपलब्धि है। यह उपलब्धि कहीं अधिक आश्चर्यजनक लगती है जब हम देखते हैं कि भारतीय जनतंत्र एक निर्धन देश में फल-फूल रहा है। पश्चिमी यूरोप के देश संयुक्त राज्य अमेरिका

और जापान आम मताधिकार पर आधारित जनतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था को काफी ऊंची आय की स्थिति में ही चला सके। उनकी जनतांत्रिक व्यवस्थाओं ने तब काम करना शुरू किया जबकि वहां न्यूनतम प्रति व्यक्ति आय 2500 अमेरिकी डालर थी। इसकी तुलना में भारत में प्रति व्यक्ति आय आजादी के समय (उस समय की विनिमय दर के आधार पर) सौ डालर से भी कम थी। भारत ने दिखला दिया है कि भाषा, धर्म, संस्कृति और मानव जातीयता संबंधी विशाल विविधता के बावजूद एक अत्यंत निर्धन देश में भी एक क्रियाशील जनतंत्र को बनाए रखना और संपोषित एवं सुदृढ़ करना संभव है। बेशक यह एक ऐसी शानदार उपलब्धि है जिसकी राजनीतिक इतिहास में कोई शानी नहीं दिखती। फिर भी, यह एक अत्यंत त्रुटिपूर्ण उपलब्धि है।

हमारी अक्षम्य विफलता है : आम लोगों की गरीबी और विपन्नता। यह नितांत लज्जा की बात है कि लगभग छह दशकों की आजादी के बाद भी हमारे यहां एक तिहाई से लेकर एक चौथाई लोग अत्यंत गरीब तथा मानव जीवन की न्यूनतम स्थितियों से वंचित हैं। हमारे यहां संसार में सबसे अधिक निरक्षर हैं और दसियों लाख बच्चे कुपोषण के कारण अपंग या अंधे हो गए हैं। एक अनुमान के अनुसार बीसवीं सदी के अंत में भारत में 26 करोड़ लोग यानी लगभग एक चौथाई जनसंख्या तथाकथित गरीबी रेखा के नीचे थी अर्थात् उन्हें जिंदगी बसर करने के लिए जरूरी न्यूनतम वस्तुएं और सेवाएं भी नहीं प्राप्त थीं। उनमें से करीब 20 करोड़ गांवों में और बाकी शहरों में है। एक अन्य अनुमान के अनुसार तीन भारतीयों में से एक अधिक भयंकर गरीबी में जीवन बसर करता है। वह प्रतिदिन क्रयशक्ति समतुल्यता (क्रयशक्ति समतुल्यता की अवधारणा को इसी अध्याय में आगे चलकर स्पष्ट किया गया है) के आधार पर एक अमेरिकी डालर से भी कम खर्च करता है।

याद रहे कि गरीबी रेखा के नीचे रहने वालों की संख्या शायद ही हमारी व्यवस्था की विफलता की दुःखद कहानी बतलाती है। इसके लिए हम एक अन्य संक्षिप्त आंकड़े का इस्तेमाल कर सकते हैं। वह आंकड़ा

है : 'मानव विकास सूचकांक' जो एक मिला-जुला सूचकांक है। यह जनसंख्या के स्वास्थ्य की स्थिति (आयुकाल के सूचकांक द्वारा व्यक्त), शिक्षा तक पहुंच और आय के असर को व्यक्त करता है। अपूर्ण होते हुए भी यह सूचकांक जीवन निर्वाह की स्थितियों का काफी कुछ बोध कराता है। वर्ष 2002 में संयुक्त राष्ट्र के मानव विकास सूचकांक की दृष्टि से 175 देशों में भारत का स्थान बहुत ही नीचा, 127वां, था। क्रयशक्ति समतुल्यता के आधार पर प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से भारत का स्थान 95वां था परंतु कुल मिलाकर 127 वां स्थान होने का अर्थ है कि आय की तुलना में स्वास्थ्य एवं शिक्षा तक पहुंच की दृष्टि से भारत में गरीबों की स्थिति अपेक्षाकृत खराब थी। वर्ष 2002 में हर पांच वयस्क में से दो निरक्षर थे, और स्वास्थ्य संबंधी सूचक बतलाते हैं कि वहां भी कहानी उसी तरह निराशापूर्ण थी। इससे भी कहीं अधिक तकलीफदेह बात यह है कि ये आंकड़े महिलाओं और दलितों के संदर्भ में कहीं ज्यादा निराशापूर्ण हैं। वे दिखलाते हैं कि हमारे समाज में आर्थिक विषमता को किस प्रकार लिंग और जाति से उत्पन्न तीव्र विषमता प्रबल बनाती है। आए दिन धार्मिक भेदभाव आग में घी जैसा काम करते हैं। इससे यह अक्षम्य तथ्य उभरता है कि छह दशकों की आजादी के बाद भी भारत का जनतांत्रिक राज्यतंत्र इन भयंकर असमानताओं को दुरुस्त करने में अक्षम रहा है।

जैसा कि आज हम जानते हैं, राष्ट्र राज्य के अंतर्गत समाज, राज्यतंत्र और अर्थव्यवस्था आती है। इन विभिन्न पहलुओं के बीच राज्य समन्वय स्थापित करता है। राष्ट्र राज्य के इन विभिन्न घटकों के बीच अंतर्क्रिया की जटिल प्रक्रिया के जरिए ही राष्ट्र का आर्थिक विकास और सामाजिक रूपांतरण होता है। जहां तक भारत का प्रश्न है, पिछले साठ वर्षों के दौरान विभिन्न अंतर्क्रियाओं के कारण ही भारत की आर्थिक संवृद्धि की रफ्तार यथोचित रूप से निरंतर रही है, और हाल में वह विश्व औसत से काफी ऊपर रही है। इसके बावजूद संवृद्धि की प्रक्रिया आम जनता की गरीबी की समस्या से निपटने में अपेक्षाकृत प्रभावहीन सिद्ध हुई है।

60 और 70 के दशकों में जब भारत की संवृद्धि करीब 3.5 प्रतिशत

की धीमी गति से हो रही थी तब विश्व अर्थव्यवस्था की संवृद्धि दर 5 प्रतिशत थी। चूंकि इस अवधि में जनसंख्या की वृद्धि की दर 2 प्रतिशत से कुछ अधिक थी, इसलिए भारत में प्रति व्यक्ति आय 2 प्रतिशत से भी कम दर से बढ़ी। 1980 के दशक से विश्व आर्थिक संवृद्धि की दर स्पष्टतया करीब 3 प्रतिशत पर आ गई है और हाल में उसमें और कमी आने की प्रवृत्तियां दिखी हैं। फिर भी, इसके विपरीत भारत 1980 के दशक के मध्य से अपेक्षाकृत तेजी से करीब 5-6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से अपनी अर्थव्यवस्था में संवृद्धि लाने लगा जबकि जनसंख्या की वृद्धि दर 2 प्रतिशत से कम रही। अतः पिछले लगभग दो दशकों के दौरान प्रति व्यक्ति आय करीब चार प्रतिशत की दर से बढ़ी है। इसके बावजूद प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि की दर दोगुनी होने पर भी आम जनता की गरीबी में कोई अनुरूप कमी नहीं आई है।

भारत अब भी एक गरीब देश है जहां 2004 में प्रति व्यक्ति आय (प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय आय) चालू कीमतों पर प्रतिवर्ष 23 हजार रुपए से कुछ अधिक थी। अमेरिकी डालर में वह चालू विनिमय दर के आधार पर 530 से कुछ अधिक थी। याद रहे कि अंतर्राष्ट्रीय तुलना के लिए डालर की यह राशि भ्रामक रूप से कम है क्योंकि एक डालर की क्रयशक्ति (जो तत्काल 45 रुपए है) भारत में अमेरिका की तुलना में काफी अधिक है। इसलिए हमें यह देखना चाहिए कि भारत में 23 हजार रुपए से जितनी वस्तुएं एवं सेवाएं खरीद सकते हैं उतनी ही वस्तुओं और सेवाओं की अमेरिका में खरीद के लिए कितने डालर की आवश्यकता पड़ेगी। इस विचार को 'क्रयशक्ति समतुल्यता' यानी परचेजिंग पावर पैरिटी (पी. पी. पी.) कहते हैं। इसी का इस्तेमाल सांख्यिकी विशेषज्ञ और अर्थशास्त्री प्रति व्यक्ति आय का हिसाब लगाने के लिए करते हैं। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय क्रयशक्ति के आधार पर भारत में प्रति व्यक्ति आय 2800 डालर होगी। यद्यपि यह राशि रुपया-डालर की वर्तमान विनिमय दर से मिलने वाली रकम से पांच गुनी से भी अधिक है, फिर भी अंतर्राष्ट्रीय मानक की दृष्टि से काफी कम है। जैसा कि हम कह चुके हैं, क्रयशक्ति समतुल्यता के आधार पर गणना की दृष्टि से विश्व के राष्ट्रों में भारत का स्थान 95 वां है।

कुछ भी हो, माप की इकाई की ओर बिना ध्यान दिए, हम कह सकते हैं कि औसत या प्रति व्यक्ति आय किसी भी राष्ट्र के नागरिकों के कल्याण का शायद ही उपयुक्त मापदंड होती है। इसके लिए हमें यह जानने की जरुरत है कि कुल आय का सकल घरेलू उत्पाद (जी. डी. पी.) का वितरण कैसे होता है। इस विचार बिंदु को नाटकीय ढंग से पेश करने के लिए, आइए, ऐसे दो समाज पर विचार करें जहां आय का वितरण एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत है। एक में प्रति व्यक्ति आय 23.000 रुपए है और जनसंख्या 100 है। दूसरा दासों वाला समाज है जहां 99 दास और एक उनका स्वामी है। प्रत्येक दास की आय केवल सौ रुपए है। शेष आय स्वामी को मिलती है। स्वामी की आय का हिसाब यों लगाया जाएगा : समाज की कुल आय यानी उसका सकल घरेलू उत्पाद (100 व्यक्ति × 23000 रुपए प्रति व्यक्ति)—99 दासों की कुल आय (99 × 100)। इस प्रकार दासों के स्वामी की आय 22, 90, 100 यानी एक दास की आय से 22.9 हजार गुना ऊंची होगी।

दासों के समाज के उदाहरण से हमें एक महत्वपूर्ण सीख मिलती है। इस समाज में औसत आय जितना प्रकट करती है उससे कहीं अधिक छिपाती है। वह दासों की चरम गरीबी और दासों के स्वामी की भोंड़ी समृद्धि पर परदा डालती है। फलस्वरूप इससे आर्थिक आंकड़े की व्याख्या की वस्तुपरकता को लेकर एक गंभीर समस्या खड़ी हो जाती है। उदाहरण के लिए, यह दास अर्थव्यवस्था अच्छी तरह काम कर रही है या नहीं, पर्यवेक्षक के दृष्टिकोण पर निर्भर है। दास के नजरिए से वह एक अन्यायपूर्ण समाज है परंतु दासों के स्वामी की निगाह में एक उत्कृष्ट समाज हो सकता है! स्वामी अपने को आश्वस्त कर सकता है कि वह किसी कारण वश ही ऊंची आय का हकदार है। उदाहरण के लिए वह यह मानकर चल सकता है कि वह विशेष रूप से योग्य, अपेक्षाकृत अधिक शिक्षित है, या फिर पिछले जन्म के सुकर्मों के कारण विशिष्ट रूप से ऊंची आय का अधिकारी है। इस प्रकार वह इस समाज को न्यायोचित मान सकता है। गांधी जी ने धनवानों द्वारा इस प्रकार के स्व-औचित्य स्थापन के प्रति चौकस रहने के लिए कहा था। उन्होंने

इस सिलसिले में जोर दिया था कि विकास की सफलता को समाज के सबसे वंचित व्यक्ति की दृष्टि से देखा जाना चाहिए।

अत्यधिक जटिल होते हुए भी ये दृष्टिकोण एक विकासशील अर्थव्यवस्था में मूलतः ज्यों के त्यों होने चाहिए। उदाहरण के लिए, हम सकल घरेलू उत्पाद की ऊंची संवृद्धि दर के बारे में भी सोच सकते हैं जो गरीबों की स्थिति को अपरिवर्तित छोड़ देती है। हम अपने उपर्युक्त उदाहरण को ही एक बार फिर लें। मान लें कि सकल घरेलू उत्पाद में दस प्रतिशत की संवृद्धि होती है, (1.1) (100 × 23000) जबकि 99 दासों को पहले की तरह ही 100 रुपए प्रति व्यक्ति प्राप्त होते हैं। इसके परिणामस्वरूप केवल स्वामी की स्थिति ही बेहतर होती है और उसे 25,20100 रुपए की बढ़ी हुई आय मिलती है जो एक दास की आय से 25.2 हजार गुनी है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि आर्थिक संवृद्धि की सब उपलब्धियां केवल स्वामी को मिलती हैं जबकि दासों को कोई फायदा नहीं पहुंचता। इस प्रकार की संवृद्धि आय के वितरण में सापेक्ष विषमता या गरीबी बढ़ाती है क्योंकि दास स्वामी की तुलना में पहले से कहीं अधिक गरीब हो जाते है। किंतु निरपेक्ष दृष्टि से वे पहले जितने ही गरीब होते हैं और उनकी प्रति व्यक्ति आय पहले की तरह ही 100 रुपए रहती है।

उपर्युक्त उदाहरण का उद्देश्य यह दिखलाना है कि, विशेषकर उस देश में, जहां ढेरों गरीब लोग हों वहां की समस्याएं केवल संवृद्धि से नहीं हल हो सकतीं। हमें इसकी जानकारी जरूरी है कि संवृद्धि के फायदों का वितरण कैसे हो रहा है। संवृद्धि की प्रक्रिया के स्वरूप के अनुकूल उसका वितरण अनेक प्रकार से हो सकता है। मोटे तौर पर कहें तो, कुल मिलाकर संवृद्धि दर 10 प्रतिशत होने पर संवृद्धि धनवानों के अनुकूल होगी यदि उनकी आय दस प्रतिशत से अधिक और गरीबों की आय दस प्रतिशत से कम बढ़ती है। इस उदाहरण में धनी निश्चित रूप से अधिक धनवान होते जा रहे हैं मगर गरीब सापेक्ष रूप से निर्धनतर होते जा रहे हैं। यह जरूरी नहीं है कि गरीब निरपेक्ष दृष्टि से गरीब हो रहे हैं। भारत जैसे गरीब देश में इससे सापेक्ष गरीबी बढ़ती है भले ही यह आवश्यक नहीं कि निरपेक्ष

गरीबी भी बढ़े। निरपेक्ष गरीबी तभी बढ़ेगी जब गरीबों की आय की वृद्धि की दर ऋणात्मक हो (यानी वह घटे)। इसके विपरीत संवृद्धि तब गरीबों के अनुकूल हो सकती है जब संवृद्धि की प्रक्रिया के दौरान उनकी आय धनी लोगों की आय की अपेक्षा तेजी से बढ़े। इसके परिणामस्वरूप निरपेक्ष और सापेक्ष निर्धनता में कमी आएगी। यदि संवृद्धि की प्रक्रिया आय के वितरण को ज्यों का त्यों रहने दे तो सापेक्ष निर्धनता अपरिवर्तित रहेगी मगर हर व्यक्ति निरपेक्ष रूप से पहले से बेहतर स्थिति में होगा।

भारत में जहां ढेर सारे लोग किसी तरह से गुजारा कर पाते हैं हमें सदा ही संवृद्धि की प्रक्रिया के वितरणात्मक पहलुओं के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील होना चाहिए। इसका बुनियादी कारण सीधा है। जिस संवृद्धि से गरीबों को सकल घरेलू उत्पाद में पहले की अपेक्षा कम मिले वह उन्हें गुजर-बसर की स्थिति से भी नीचे धकेल देगी। ऊंची से ऊंची संवृद्धि दर को हम तब तक पर्याप्त नहीं मान सकते जब तक हम यह न जानें कि वह गरीब बहुसंख्यक जनता को कैसे प्रभावित करती है। इतना ही नहीं, हमारी राजनीतिक प्रणाली, जिसमें, चुनाव के समय ही सही, गरीबों की आवाज सुनी जाती है, केवल आंशिक उत्तर ही दे सकती है। इसे बड़े सजीव ढंग से हाल में हुए भारतीय आम चुनाव (2004) के परिणामों ने स्पष्ट किया है। एक उछाल भरा शेयर बाजार, और एक अपेक्षाकृत समृद्ध एवं विस्तारशील शहरी मध्यवर्ग ने सत्ताधारी भाजपानीत गठबंधन सरकार में यह विश्वास पैदा कर दिया कि सारा देश प्रगति कर रहा है। उन्होंने "इंडिया शाइनिंग" (भारत उदय) का नारा गढ़ा। पार्टी के चुनाव में हारते ही यह नारा धराशाई हो गया और अधिकतर आर्थिक पंडित और मीडिया टिप्पणीकार भौंचक्के हो गए। यह नहीं भूलना चाहिए कि विपक्षी कांग्रेसनीत गठबंधन सरकार की 1996 में इसी प्रकार की नियति रही, यद्यपि उसने अर्थ-व्यवस्था के उदारीकरण और संवृद्धि की ऊंची दरों का सिलसिला आरंभ करने में गर्व महसूस किया था। आंकड़ों को लेकर हुई बहसों और विवादों को दरकिनार कर दें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि हमारी आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियों के बीच कहीं न कहीं गंभीर अलगाव है। उच्च संवृद्धि से अधिकतर गरीब

भारतीयों की आशा पूरी नहीं होती भले ही वे अपने असंतोष को चुनावों के समय नकारात्मक मतों के जरिए व्यक्त कर सकते हैं। इसके बावजूद वे संवृद्धि की प्रक्रिया के सारतत्त्व को न बदल सकते हैं और न ही प्रभावित कर सकते हैं, और सभी सत्तारूढ़ सरकारें देदीप्यमान भारत का राग थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अलापने लगती हैं जब मध्यम वर्ग समृद्धतर होता जाता है, शेयर बाजार में उछाल आता है तथा सकल घरेलू उत्पाद की संवृद्धि दर ऊंची रहती है। यह सिलसिला तब तक चलता है जब तक अगले चुनाव में हिसाब-किताब चुकता करने का समय नहीं आ जाता। उस समय अधिक हुआ तो गरीब अपना गुस्सा सत्तारूढ़ सरकार को हराकर प्रकट कर सकते हैं। हमारे जनतांत्रिक राजतंत्र ने हमें नहीं बतलाया है कि हम उन नीतियों को लेकर आगे कैसे बढ़ें जो गरीबों की दशा में सुधार लाएं। यह चुनौती है कि हम अपनी अर्थव्यवस्था और अपने राजतंत्र के बीच के अलगाव को कैसे समाप्त करें? भारत इस चुनौती से अपना मुंह नहीं मोड़ सकता।

इस संदर्भ में कोई भी पूछ सकता है कि क्या आय का असमान वितरण ही इस दुरावस्था को स्पष्ट कर सकता है। हम अपनी स्थिति की तुलना दूसरे विकासशील देशों की हालत से कर इस प्रश्न का उत्तर आंशिक तौर पर दे सकते हैं। उपर्युक्त मानव विकास रिपोर्ट (2004) के अनुसार भारत में आय वितरण का ढांचा असमान है मगर अन्य विकासशील देशों के मानकों के अनुसार अत्यधिक नहीं है। उदाहरण के लिए भारतीय 20 प्रतिशत सबसे धनवान और 20 प्रतिशत सबसे निर्धन लोगों का हमारी राष्ट्रीय आय में हिस्सा क्रमशः 42 प्रतिशत और 9 प्रतिशत है। इसकी तुलना में समकालीन (उदारीकरण के उपरांत) चीन में अधिक असमान यानी क्रमशः 50 और 5 प्रतिशत तथा वियतनाम में 45 और 8 प्रतिशत है। अनेक प्रमुख मध्य अमेरिकी और लैटिन अमेरिकी तथा अफ्रीकी देशों में आय का वितरणं कहीं अधिक असमान है। उदाहरण के लिए 20 प्रतिशत सबसे धनवान और 20 प्रतिशत सबसे निर्धन लोगों का राष्ट्रीय आय में हिस्सा ब्राजील (लगभग सबसे खराब उदाहरण) में क्रमशः 64 और 2 प्रतिशत, जिम्बाबे में 56 और 5 प्रतिशत, और नाइजीरिया में क्रमशः 56 और 4 प्रतिशत है। साथ ही

यह नहीं भूलना चाहिए कि मानव विकास सूचकांक की दृष्टि से मेक्सिको (क्रम 53), ब्राजील (क्रम 72) और चीन (क्रम 94) की स्थिति भारत से बेहतर है।

ऐसा अधिकतर इसलिए है कि उनके यहां प्रति व्यक्ति आय भारत से काफी ऊंची है। इसके अतिरिक्त, कई देशों में समाजवादी व्यवस्था की विरासत स्वास्थ्य और शिक्षा तक गरीबों की पहुंच आसान बनाती है। इससे यह बात उजागर होती है कि संवृद्धि दर ऊंची होने के बावजूद भारत में अभी आय के प्रति व्यक्ति निम्न स्तर को देखते हुए संवृद्धि प्रक्रिया के दौरान आय वितरण की दृष्टि से और नीचे जाना नामुमकिन है। आय वितरण की स्थिति में कोई भी गिरावट बहुसंख्यक गरीबों को जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक कम से कम आय के स्तर से नीचे धकेल देगी। हमारी जनतांत्रिक व्यवस्था में संवृद्धि गरीबों के पक्ष में आय वितरण में निरंतर सुधार, और बुनियादी स्वास्थ्य एवं शिक्षा तक उनकी बढ़ती पहुंच के साथ-साथ होनी चाहिए। संक्षेप में, उच्च संवृद्धि का झुकाव गरीब के पक्ष में होना चाहिए।

स्वातंत्र्योत्तर भारत की आर्थिक मोर्चे पर अक्षम्य विफलता अपने अनेक नागरिकों को जीवन निर्वाह की न्यूनतम आर्थिक परिस्थिति न दे पाना है। इस विफलता पर एक साथ कम से कम परस्पर जुड़े तीन मोर्चों पर आगे बढ़कर पार पाया जा सकता है। पहला, भारत प्रति व्यक्ति निम्न आय वाला गरीब देश है। चूंकि स्वयं रोटी का आकार छोटा है इसलिए उसके (आय के) वितरण में असमानता गरीबों को कहीं अधिक बुरी तरह प्रभावित करती है। मात्र इसी दृष्टिकोण से देखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि भारत को यथासंभव तेजी से अपनी संवृद्धि करनी चाहिए। दूसरा, संवृद्धि की प्रक्रिया के अंदर एक समाहित क्रियाविधि होनी चाहिए, जो संवृद्धि की प्रक्रिया के जरिए ही आय के वितरण को तेजी से बेहतर बनाए। इस दृष्टि से देखें तो हमें सकल घरेलू उत्पाद की संवृद्धि दर को गरीबों के लिए उसके वितरणात्मक परिणामों से अलग रखना बंद कर देना चाहिए। इसके विपरीत हमें इन दोनों को ऐसी प्रक्रियाओं के रूप में लेना चाहिए जो हमारी आर्थिक नीतियों के निर्माण में एक-दूसरे को पुष्ट करती हैं। अंत में, वितरण और संवृद्धि

का यह अंतर्गुंथन भारतीय संदर्भ में समस्याओं का सामना किए बिना प्रभावकारी नहीं हो सकता, जिनकी जड़ें जाति, लिंग और धार्मिक भेदभाव में निहत हैं। ये सामाजिक समस्याएं विशेषकर किसी भी निर्धनोन्मुखी आर्थिक संवृद्धि की प्रक्रिया में बाधक हैं। इसलिए उनसे निबटना संवृद्धि दर को बढ़ाने वाली नीतियों से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

संक्षेप में, जिस विकास प्रक्रिया के लिए हमें प्रयत्नशील रहना चाहिए उसका उद्देश्य केवल उच्चतर संवृद्धि, नहीं होना चाहिए और न ही उसका मतलब एक विशद् प्रशासनिक तंत्र होना चाहिए जिसके जरिए आय का वितरण गरीबों के अनुकूल बनाया जाय। उसे एक बिल्कुल भिन्न परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए जिसमें संवृद्धि और वितरण उसी प्रक्रिया के साथ एकीकृत हो। साथ ही लिंग, जाति, भाषा, धर्म या मानव जातीयता पर आधारित भेदभाव तथा पूर्वाग्रह के सामाजिक अवरोधों को एक-एक कर तोड़ा जाय। भारत में प्रतिष्ठापूर्ण विकास का हमारे लिए यही अर्थ होना चाहिए। यह कोई यूटोपिया नहीं है। यही एक मात्र तर्कसंगत अर्थशास्त्र है जिसका अनुसरण यह देश अपने जो कमोबेश गरीब बहुसंख्यक नागरिकों के समर्थन से कर सकता है। कहना न होगा कि जन समर्थित आर्थिक नीतियां व्यावहारिकता के दायरे में हैं।

II

बाजार की सफलता और विफलता : कैसे, कहां, कब?

राजनीतिक जनतंत्र में एक वयस्क-एक वोट, उस बाजार व्यवस्था के साथ ही रहता है, जहां मताधिकार क्रयशक्ति पर आधारित होता है। बाजार में धनवानों के पास निर्धनों की तुलना में अधिक वोट होते हैं मगर उसके आधार पर जनप्रतिनिधियों को नहीं चुना जाता। यद्यपि यह व्यवस्था त्रुटिपूर्ण ढंग से काम करती है, और धनवान बहुधा वोट खरीद लेते हैं, फिर भी भारतीय जनतंत्र के परिपक्वता की ओर बढ़ने के फलस्वरूप धनवानों और शक्तिशाली लोगों द्वारा चुनावों के परिणामों को निर्धारित करने की उनकी ताकत पर उत्तरोत्तर लगाम लगती गई है। परिणामस्वरूप, यद्यपि बाजार में गरीबों की आवाज अत्यंत धीमी है, फिर भी मात्र अपनी संख्यात्मक ताकत के कारण उनकी राजनीतिक आवाज कहीं अधिक जोरदार है। इससे अवश्यंभावी रूप से तनाव पैदा होते हैं, और एक दरार पैदा हो जाती है।

हमारी बाजार अर्थव्यवस्था में जहां व्यापक पैमाने पर गरीबी है जनतंत्र बहुधा एक दो सिरों वाले जानवर के रूप में आचरण करता है और उसके लिए सीधे एक ही दिशा में चलना कठिन होता है। दक्षिण पंथ खिन्न है कि हम बाजार व्यवस्था की ओर पर्याप्त तेजी से नहीं बढ़ रहे; आर्थिक 'सुधारों' पर रोक-सी लग गई है। वामपंथ इस बात से खिन्न है कि राज्य कार्यकुशलता के नाम पर वितरणात्मक न्याय की ओर ध्यान नहीं दे रहा। और, हममें से अधिकांश मीडिया द्वारा प्रचारित इस विचार में विश्वास करते

कि हमारी अकुशलता का यही मुख्य स्रोत है। भारत काफी ऊंची संवृद्धि दर प्राप्त कर सकता है, बशर्ते हम बाजार की शक्तियों को अपना अपेक्षाकृत अधिक दबदबा बनाने दें।

ये दलीलें गलत हैं; नैतिक रूप से और आर्थिक तर्कशास्त्र के आधार पर भी। नैतिक धरातल पर संवृद्धि के विषय में बिना उसके उद्देश्य को स्पष्ट किए कि उससे समाज की किन श्रेणियों को फायदा पहुंचेगा अस्वीकार्य है। जो संवृद्धि केवल दासों के स्वामी को फायदा पहुंचाती है वह दासों के लिए बेमानी है भले ही उसकी दर कितनी भी ऊंची क्यों न हो। इसके विपरीत सिर्फ दासों का भला करने वाली संवृद्धि में स्वामी की कोई दिलचस्पी नहीं होती। आर्थिक संवृद्धि की दर एक तटस्थ संख्या है किंतु उसकी व्याख्या के लिए हमें एक विशेष दृष्टिकोण वैसे ही अपनाना होगा जैसे अधिकतर आर्थिक आंकड़ों की व्याख्या में अपनाते हैं। इस मुद्दे से कतराने के बदले ईमानदारी बरतना बेहतर है।

यदि भारत में उच्चतर संवृद्धि पहले से ही थोड़े से चुने हुए काफी समृद्ध लोगों के बजाय बहुसंख्यक जनता के कल्याण की ओर उन्मुख हो तो संवृद्धि से संबंधित नीतियों के निर्माण में जनतांत्रिक निर्णय का गंभीरता पूर्वक सम्मान होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यदि गांधीवादी कथन को लागू करें तो वह उच्चतर संवृद्धि दर निरर्थक है जो भारत में गरीबों की स्थिति को बेहतर नहीं बनाती। इससे हमें उस विशिष्ट राजनीतिक विचार की पड़ताल में मदद मिलती है जो हाल के वर्षों में काफी प्रचलित हो गया है। यह बहुधा कहा जाता है कि उच्चतर संवृद्धि किसी भी गरीब राष्ट्र को अपेक्षाकृत अधिक अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा दिलाती है, और इस आधार पर उसे वांछनीय समझा जाना चाहिए। यह धनवानों का एक तरह से सिरफिरा राष्ट्रवाद है। जो देश अपनी बहुसंख्यक गरीब जनता को रोटी, कपड़ा और शिक्षा नहीं दे सकता उसके विषय में शायद ही आशा की जा सकती है कि उसे अंतर्राष्ट्रीय सम्मान मिलेगा। इस दृष्टि से भी संवृद्धि का लाभ गरीबों तक तेजी से पहुंचना चाहिए जिससे धनवानों को आत्म प्रतिष्ठा मिल सके!

किसी भी लागत पर उच्चतर संवृद्धि की दलील भी त्रुटिपूर्ण आर्थिक

तर्क पर आधारित है। आइए, एक ऐसे परिदृश्य पर विचार करें जहां संवृद्धि की प्रक्रिया में अनेक धंधे और जीविकोपार्जन के अवसर समाप्त हो जाते जबकि थोड़े से नए प्राप्त होते हैं, तथा निर्धनता उत्तरोत्तर व्यापक होती जाती है। इसका मतलब है कि अधिकतर लोग नुकसान में रहते हैं जबकि थोड़े से लोगों को फायदा होता है। नुकसान उठाने वाले लगभग बेजुबान, और अपनी घटी क्रयशक्ति के कारण बाजार में हाशिए पर चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में बाजार में उत्पादन उनकी ओर से उत्तरोत्तर मुंह मोड़ लेगा, जिससे स्वयं बाजार प्रणाली में एक अत्यंत मौलिक विकृति आ जाएगी। यह बात वे लोग शायद ही स्पष्ट रूप से देख पाते हैं जो येन-केन प्रकारेण संवृद्धि को बढ़ाने के लिए सुधारों की हिमायत करते हैं। चूंकि बाजार में उत्पादन क्रयशक्ति पर आधारित 'वोटिंग' के जरिए होता है इसलिए बाजार की प्रवृत्ति कुछ अत्यंत आवश्यक वस्तुओं को काफी कम करने की होती है क्योंकि उनकी मांग बेजुबान गरीब बाजार में कर रहे हैं। यह बात गौण महत्व की है कि बाजार संसाधनों का आवंटन अनुकूलतम ढंग से करता है और उत्पादन कुशलतापूर्वक करता है यदि वह जो कुछ उत्पन्न करता है वह बहुसंख्यक नागरिकों की दृष्टि से गैर जरूरी वस्तुएं हैं। हमारे दैनिक जीवन में इस बाजार परिघटना के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं, भले ही हम उन्हें पहचान नहीं पाते। आजकल बड़े शहरों, और यहां तक कि छोटे शहरों में बोतलबंद पेय जल इतनी कीमत पर उपलब्ध है कि केवल ऊपर के दस प्रतिशत आय वाले ही खरीद सकते हैं। इसके बावजूद बाजार के ऊपर स्वभावतया ऐसा कोई दबाव नहीं है कि वह निरापद पेय जल जैसी बुनियादी वस्तु बनाकर गरीबों को उपलब्ध कराए। फिर भी वह अधिकाधिक बोतलबंद पानी तैयार करता है जिससे संवृद्धि की दर का हमारा आंकड़ा बढ़ जाता है। इसी प्रकार हमारे यहां आधुनिकतम चिकित्सा सुविधाएं ऊंची कीमतों पर उपलब्ध कराने वाले अस्पताल हैं मगर हम उससे काफी कम कीमत पर मर रहे यक्ष्मा रोगियों के लिए शय्या और दवा का इंतजाम नहीं कर सकते। इसी प्रकार निरोध्य अंधेपन से पीड़ित लाखों बच्चों को दबाएं तथा चिकित्सा सुविधाएं उपलब्ध नहीं करा पाते। आधुनिक भारत के दैनिक जीवन

के प्रायः हर क्षेत्र से ऐसे अनेकानेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। संक्षेप में, व्यापक गरीबी वाली अर्थव्यवस्था में बाजार के साथ एक मूलभूत समस्या जुड़ी है : यदि बाजार के जिम्मे छोड़ दिया जाय कि किन वस्तुओं का उत्पादन हो तो स्पष्ट है कि वह गरीबों की आवश्यकता वाली अत्यंत बुनियादी और जरूरी वस्तुओं का उत्पादन नहीं करेगा। साथ ही वह ऐसी कुछ वस्तुओं का उत्पादन बड़ी कुशलता से कर सकता है जिन्हें केवल धनवान ही खरीद सकते हैं। इस प्रकार कोई जरूरी नहीं है कि बाजार-प्रेरित घरेलू उत्पादन की संरचना गरीबों की आवश्यकता और खरीदने की क्षमता के अनुकूल हो। यह आर्थिक चिंतन की एक आम त्रुटि को उजागर करता है। जब तक उत्पन्न की जाने वाली आवश्यक वस्तुएं गरीब नागरिकों की जरुरतों के अनुकूल नहीं होतीं तब तक अपेक्षाकृत अधिक कार्यकुशलता इस समस्या का समाधान नहीं है। इसीलिए बुनियादी स्वास्थ्य, शिक्षा, और आवास जैसी कतिपय जरूरी वस्तुएं राज्य द्वारा गरीबों को उपलब्ध कराई जानी चाहिए जबकि बाजार अल्प क्रयशक्ति वालों के लिए उन्हें उत्पन्न नहीं करेगा। उनके उत्पादन में राज्य को कार्यकुशल होना चाहिए मगर कार्यकुशलता के प्रति उत्साह के कारण हमें इस समस्या से आंखें नहीं फेर लेनी चाहिए कि इन वस्तुओं का उत्पादन गरीबों की भुगतान करने की क्षमता के दायरे के अंदर ही हो। इस मुद्दे को राज्य बनाम बाजार की समस्या के रूप में प्रस्तुत करना गलत है।

इस तर्क की तात्कालिक व्यावहारिक प्रासंगिकता है। उदाहरण के लिए बड़े शहरों में पानी के निजीकरण को ही लें। सही अर्थ में निजीकरण का मतलब पानी के लिए काफी ऊंची कीमत मात्र हो सकता है जिसका भुगतान अनेक शहरी गरीब लोगों के सामर्थ्य से बाहर होगा। यह मांग की अपेक्षा पानी की आपूर्ति अपर्याप्त होने पर गरीबों के बीच नियंत्रित वितरण लागू करने का एक तरीका मात्र है। इसे आर्थिक सिद्धांत की भाषा में 'कीमत राशनिंग' (या कीमत पर आधारित नियंत्रित वितरण) कहते हैं। पानी जैसी एक बुनियादी जरुरत के सिलसिले में निजीकरण के जरिए निर्मम कीमत राशनिंग लागू करना न तो मानवोचित है और न ही समझदारी पूर्ण। यह

ऐसी समस्या है जिसका समाधान बाजार की प्रणाली की परिधि में कीमत राशनिंग के अंधाधुंध तंत्र मात्र का सहारा लेकर किया जा सकता है। ध्यान रखें कि इस विशेष संदर्भ में बाजार आधारित समाधानों के पक्ष में जो आम दलील दी जाती है वह लगभग बेतुकी है। यह दावा कि कीमत का ऊंचा स्तर दीर्घकाल में उत्पादकों को अपने संसाधन अन्य वस्तुओं के उत्पादन से हटाकर इस वस्तु (पानी) का उत्पादन बढ़ाने में लगाएंगे निरर्थक है क्योंकि पानी बिना, दीर्घकाल की कौन कहे, अल्पकाल में भी हम मर जाएंगे। इस उदाहरण से मिलने वाली सीख सामान्य है : व्यापक निर्धनता वाले किसी देश में बुनियादी और आवश्यक वस्तुओं का निजीकरण बाजार के रहमोकरम पर नहीं छोड़ा जा सकता। कानून और व्यवस्था या प्रतिरक्षा की तरह ही यदि इन वस्तुओं को प्रदान करने में राज्य अत्यंत अकुशल है तो हमारी जनतांत्रिक प्रणाली के दायरे में ही उसकी जवाबदेही बढ़ाकर समाधान ढूंढ़ना चाहिए। निजीकरण किसी भी तरह समाधान नहीं है। और इससे यह व्यापक मुद्दा खड़ा हो जाता है कि बाजार-आधारित समाधान किस हद तक कारगर हो सकता है।

सैद्धांतिक दृष्टि से पूर्णरूपेण काम करने वाले बाजारों की मान्यता के आधार पर, जिसे अर्थशास्त्री 'पूर्ण प्रतियोगिता' कहते हैं, यह दिखलाया जा सकता है कि बाजार कोई न कोई समाधान प्रस्तुत कर सकता है। इस समाधान की मुख्य विशेषता यह होती है कि वह उत्पादन की दृष्टि से तो कुशल होता है, मगर आय के वितरण के प्रति बिल्कुल उदासीन होता है। इसका अर्थ है कि बाजार के क्रियाकलाप के लिए अनुकूल सर्वोत्तम परिस्थितियों की मान्यता को लेकर चलने पर भी इसकी कोई गारंटी नहीं है कि आय का वितरण सहनीय होगा। ऐसी चरम स्थिति भी आ सकती है जब कुछ लोगों के पास इतनी कम आय हो सकती है कि वे न जिंदा रह सकें और न ही अपनी बुनियादी जरुरतों को पूरा कर सकें। बेशक, इस स्थिति में उनकी भुखमरी बाजार आधारित हल का ही अंग होगी!

इससे कहीं अधिक आश्चर्य की बात है कि आर्थिक सिद्धांत की इस शाखा में ऐसा कुछ भी नहीं है जो निश्चित करे कि पूर्णतया प्रतियोगी बाजार

में उस कुशल समाधान तक पहुंचने में कितना समय लगेगा, बशर्ते वह वहां तक पहुंच सके। सैद्धांतिक अर्थशास्त्री सामान्यतया इस समस्या पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से तीन पृथक् चरणों में विचार करते हैं। पहला, क्या इस प्रकार का कुशल और अनुकूलतम बाजार वाला समाधान है? या हम अंधेरे कमरे में लोकोक्ति वाली उस बिल्ली को ढूंढ़ रहे हैं जो वहां नहीं है! पूर्ण प्रतियोगिता की अत्यंत अयथार्थवादी मान्यता की आवश्यकता अनुकूलतम बाजार समस्या के इस 'विद्यमानता गुणधर्म' को सुनिश्चित करने के लिए होती है। दूसरे शब्दों में, जब तक पूर्ण प्रतियोगिता के स्पष्ट अयथार्थवाद को गले से नीचे नहीं उतारें तब तक हम आश्वस्त नहीं हो सकते कि बाजार के पास देने को कोई कुशल समाधान है। इसके बाद बाजार समाधान का 'स्थिरता गुणधर्म' आता है। यह अपेक्षा करता है कि कीमत प्रणाली सरकारी हस्तक्षेप के बिना अर्थव्यवस्था को अनुकूलतम बाजार समाधान तक पहुंचाने में सक्षम हो।

इस दूसरे चरण में जांच-पड़ताल का उद्देश्य यह पता लगाना होता है कि यदि बाजार कीमतों के किसी मनमाने समूह को लेकर चले तो क्या इस प्रकार के समाधान तक पहुंचा जा सकता है। कहना न होगा कि इन जांच-पड़तालों का परिणाम बतलाता है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अलावा और भी अविश्वसनीय मान्यताओं की आवश्यकता होगी। तब कहीं जाकर यह सुनिश्चित हो सकेगा कि मांग और पूर्ति द्वारा शासित कीमत प्रणाली द्वारा बाजार समाधान पर पहुंचा जा सकता है। इसका अर्थ है कि किसी लगभग बेतुकी मान्यता के आधार पर, जिसमें किसी भी उत्पादक या उपभोक्ता के पास कीमतों को प्रभावित करने की क्षमता नहीं होती, बाजार अपेक्षित कुशल समाधान तक पहुंच सकता है। इसके बावजूद तीसरे चरण में यह सिद्धांत नए परिधान से सुसज्जित सम्राट की तरह दिखता है! नीति निर्धारण के सब व्यावहारिक उद्देश्यों की दृष्टि से हमें यह जानने की जरुरत है कि किस रफ्तार से बाजार-समाधान पर पहुंचा जा सकता है। सिद्धांत की इस शाखा में ऐसा कुछ भी नहीं है जो हमें प्रबुद्ध कर सके कि अपने कुशल, अनुकूलतम समाधान तक पहुंचने में बाजार को कितना समय लगेगा। इस

प्रकार एक तानाशाह की तरह बाजार बिना पूरा करने की जहमत उठाए सदा वादा कर सकता है। कहना न होगा कि एक राजनीतिज्ञ को अनिश्चित काल तक यह दावा करने का सुविधाजनक बहाना मिल जाता है कि जब तक बाजारोंमुखी सुधारों का अगला दौर आरंभ नहीं किया जाता तब तक अच्छे परिणाम नहीं आएंगे! खुदा का शुक्र है कि आसमान के तारे तोड़ लाने जैसे इस वादे के रास्ते में कम से कम एक अड़चन है। राजनीतिक नेताओं को अगले चुनाव के समय अपने काम का लेखाजोखा देना पड़ता है। इतना ही नहीं, उनको यह लेखाजोखा बहुसंख्यक मतदाताओं के सामने प्रस्तुत करना पड़ता है जो गरीब हैं। चूंकि बाजार प्रणाली के विपरीत हमारी जनतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था को निर्दिष्ट समय सीमा के भीतर कार्य-निष्पादन करना पड़ता है, इसलिए विशुद्ध बाजार समाधानों का बहुधा कोई राजनीतिक अर्थ नहीं होता।

बाजार तंत्र की इन अंतर्निहित समस्याओं को देखते हुए उनका सीधे तौर पर सामना करने और उन व्यावहारिक समाधानों को ढूंढ़ने में ही ईमानदारी है जो बाजार और राजकीय कार्रवाई का इस प्रकार सामंजस्य बैठाए कि निर्दिष्ट समय-सीमा के अंतर्गत जवाबदेही की जरुरत पूरी हो सके। किंतु आजकल हमारे राजनीतिक नेता और उनके आर्थिक सलाहकार शायद ही ऐसा करते हैं। इसके बदले वे एक सुविधाजनक वैचारिक सुगम मार्ग अपनाते हैं जिसके लिए प्रायः निरपवाद रूप से अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक जैसी संस्थाएं प्रोत्साहित करती और भ्रामक रूप से बाजार बनाम राज्य का मुद्दा बनाकर पेश करती हैं। स्वाभाविक तौर पर एक राजनीतिक नेता के लिए हमारी मुश्किल आर्थिक समस्याओं के लिए बाजार नामक अमूर्त संस्थान को जिम्मेदार ठहराना विशेष रूप से सुविधाजनक होता है। और यह इसलिए भी विशेष रूप से सुविधाजनक होता है कि बाजार से मिलने वाले समाधान की कोई निश्चित समय-सीमा नहीं होती, और राजनीतिक नेता यह दावा लगातार कर सकता है कि जब तक सुधारों का अगला दौर पूरा नहीं होता तब तक आर्थिक निष्पादन में सुधार नहीं हो सकता। फिर भी चूंकि राजनीतिक नेता अपने आर्थिक निष्पादन के लिए

जवाबदेह होते हैं इसलिए उत्तर-आर्थिक सुधार काल (मोटे तौर पर 1992) के बाद हमने चुनाव परिणामों में बार-बार एक अस्पष्टतया विरोधाभासी परिघटना देखी है। उच्च संवृद्धि दरों, उछाल भरे शेयर बाजारों और अत्यंत सुखकर विदेशी विनिमय भंडार के बावजूद एक के बाद एक गठबंधन सरकारें-कांग्रेसनीत हों या भाजपानीत—आम चुनाव जीतने में विफल रही हैं। आर्थिक सुधार के पक्ष में दिया गया आंकड़ों का अंबार भी इस सरल तथ्य को नहीं छिपा सकता। जहां तक आमतौर पर मतदाताओं के प्रति उत्तरदायित्व का प्रश्न है, भारत में आर्थिक सुधार स्पष्ट सफलता से काफी दूर रहा है।

यदि हम अपनी जनतांत्रिक प्रणाली की इज्जत करते हैं तो हमें राजनीतिक नेता की इस जवाबदेही का इस्तेमाल बाजार प्रणाली को उत्तरदाई बनाने के लिए करना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर बाजार और राज्य में से किसी एक को चुनने को लेकर होने वाली बहस काफी हद तक बेमानी है। इसके बदले मूल मुद्दा है कि बाजार प्रणाली को किस प्रकार हम अपने राजनीतिक जनतंत्र के क्रियाकलाप के अनुकूल बनाएं। कोई गलतफहमी न हो इसलिए यहां रेखांकित किया जाना चाहिए कि इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि राज्य को बाजार-परस्त अथवा बाजार-विरोधी नीतियों को अपनाना चाहिए। इसके बदले ऐसी नीतियां बनाने का प्रयास होना चाहिए जिनके जरिए दोनों संस्थान, राज्य और बाजार परस्पर एक-दूसरे को सुदृढ़ करें जिससे हमारे राजनीतिक और आर्थिक जनतंत्र एक-दूसरे के नजदीक आ सकें। यही हमारे सब नागरिकों के लिए सम्मान सहित आर्थिक विकास की नीति के अनुसरण का सार भी है, और वर्तमान काल में आर्थिक नीति के लिए चुनौती भी।

इस समस्या पर कल्पनाशीलता और आंखों पर बिना वैचारिक पट्टी लगाए खुले दिमाग से विचार करने के लिए आइए, बाजार तंत्र के मूल सकारात्मक पहलू से शुरू करें। केंद्रीकृत नौकरशाही नियोजन के विपरीत बाजार प्रणाली का मुख्य आकर्षण है कि वह एक हद तक अपने आप गलती को सुधारने की क्षमता से युक्त है। संसाधनों का बड़े पैमाने पर गलत आवंटन

मांग और पूर्ति के जरिए कीमतों में प्रतिबिंबित होता है। इसके बावजूद यद्यपि बाजार प्रणाली के इस फायदे को नौकरशाही वाले केंद्रीय नियोजन की गलतियों से बचने के लिए इस्तेमाल किया जाना चाहिए फिर भी इस फायदे को इतना बढ़ा-चढ़ाकर नहीं रखना चाहिए कि उससे नुकसान हो। दो महत्वपूर्ण कारणों से एक संतुलित और कम कठमुल्लावादी दृष्टिकोण जरूरी है। पहला, जैसा कि कहा जा चुका है, मांग का स्वरूप आय के वितरण पर निर्भर होता है, और वह वितरण राजनीतिक दृष्टि से स्वीकार्य हो सकता है या नहीं हो सकता। भारतीय स्थिति में जहां व्यापक गरीबी है, स्पष्टतया यह स्वीकार्य नहीं है। यह बाजार-आधारित मांग-पूर्ति तंत्र को भारत में विशेष रूप से दोषपूर्ण बना देता है। सरल शब्दों में कहें तो, इसका अर्थ है कि बाजार निर्देश देता है कि क्रयशक्ति के अनुसार किन वस्तुओं का उत्पादन हो। इस प्रकार वह उन वस्तुओं का उत्पादन कुशलतापूर्वक कर सकता है जो सबके लिए आवश्यक होने के बावजूद सिर्फ धनी लोगों द्वारा खरीदी जा सकती हैं। इस बिंदु को पहले स्पष्ट किया गया था बोतल बंद पानी के उदाहरण को लेकर। बोतलबंद पेय जल का उत्पादन कुशलतापूर्वक विभिन्न किस्मों में किया जा सकता है, जो गरीबों की पहुंच से परे हो भले ही गांव पेय जल के बिना ही रहें। दूसरा कारण वह रफ्तार है जिससे हल को प्राप्त करना होगा। फिर, आम गलती यह सुझाना है कि बाजारतंत्र मांग और पूर्ति के जरिए इस स्थिति को "देर-सबेर" सही कर देगा। यह भी गलत है। जैसा कि बतलाया जा चुका है, रफ्तार इतनी धीमी हो सकती है कि व्यावहारिक तौर पर अप्रासंगिक हो।

भोजन, मकान या वस्तु, स्वच्छ जल और स्वास्थ्य की देख-भाल जैसी जीवन की बुनियादी जरुरतें अनंतकाल तक प्रतीक्षा नहीं कर सकतीं। किसी भी वास्तविक जनतांत्रिक सरकार को इन जरुरतों को तुरंत पूरा करने की सीधी जिम्मेदारी बिना यह बहाना किए लेनी चाहिए कि 'कालक्रम में उचित बिंदु' पर बाजार आर्थिक उदारीकरण के जरिए यह कार्य करने में सक्षम है। उदारीकरण एवं निजीकरण के प्रति उत्साहित राजनीतिक नेता बहुधा दावा करते हैं कि अर्थव्यवस्था के अच्छा करने के बावजूद सत्तारूढ़ सरकार

चुनाव हार जाती है क्योंकि वह जनता की ऊंची होती प्रत्याशाओं को पूरा नहीं कर पाती। वे अपने निदान में आम तौर से गलत होते हैं; अर्थव्यवस्था के अच्छा करने का यह मतलब नहीं है कि लोग भी अच्छा कर रहे हैं।

इतना ही नहीं, जिस सरकार की आंखें और कान सिर्फ बाजार पर लगे हों, वह गरीबों को देखने, और उनकी आवाज सुनने में विफल होगी।

III

अर्थव्यवस्था और राज्यतंत्र का परस्पर प्रभाव

भारत की कार्यशील जनतांत्रिक प्रणाली के ऊपर हमारा गर्व करना उचित है। साथ ही हमें उसके अत्यंत चिंताजनक पहलू का भी सामना करना चाहिए। ऐसा कैसे है कि एक देश जहां बड़ी भारी संख्या में गरीब लोग रहते हैं ऐसी किसी सच्ची जनप्रिय सरकार को सत्ता में नहीं ला सका है जो गरीबों के अनुकूल हो? एक ऐसी सरकार जिसने दृढ़ प्रतिज्ञ होकर गरीबी के ऊपर कहीं अधिक कारगर ढंग से हमला किया होता? मतदाताओं द्वारा हाल के समय में दिए गए फैसलों में हमने बार-बार एक प्रकार का नकारात्मक मतदान ही देखा है। जब जनता सरकार से पूरी तरह असंतुष्ट हो जाती है तब वह अपने गुस्से को उसके खिलाफ वोट डालकर दर्ज कराती है, जिसे टी.वी. के विशेषज्ञ "सत्ताधारिता कारक" कहते हैं। परिणामतः हम विरले ही सकारात्मक परिवर्तन की आशा से मतदान करते हैं। हम सामान्यतया राजनीतिक नेताओं पर भरोसा नहीं करते और उस सरकार को "अपना" नहीं कहते जिसे हमने भूल से चुना है। यह शायद ही प्रतिष्ठापूर्ण विकास, और एक अपेक्षाकृत न्यायप्रद तथा समृद्ध समाज की ओर बढ़ने का आधार है।

इस समस्या की स्पष्ट समझदारी भारत में दक्षिण पंथ और वामपंथ, दोनों, के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण है। बाजार की ओर उन्मुख दक्षिण पंथ को स्पष्ट करने की जरुरत है कि लगभग दो दशकों तक निरंतर आर्थिक

उदारीकरण के बाद भी निर्धनता में नाममात्र कमी लाई जा सकी है। वामपंथी अगर सचमुच गरीबों का प्रतिनिधित्व करना चाहते हैं तो उन्हें कहीं अधिक गहराई में जाकर आत्मचिंतन करने की आवश्यकता है। अपने कुछ परंपरागत गढ़ों को छोड़कर जहां सत्ता बनाए रखने में सफल रहे हैं सारे देश में राजनीतिक तौर पर अपना विस्तार करने में असफल क्यों रहे हैं? इन प्रत्यक्षतः राजनीतिक प्रश्नों का उत्तर आर्थिक रूप में देना होगा। यदि हम अपने सब नागरिकों के लिए प्रतिष्ठापूर्ण आर्थिक विकास का एक नया मार्ग तैयार करने की कोशिश करते हैं तो यह अत्यंत आवश्यक है।

तत्काल हम अपने अनुभव से जानते हैं कि इन प्रश्नों के भोले-भाले उत्तर हमारे आर्थिक एवं राजनीतिक जनतंत्र के परस्पर अलगाव को कम करने में अत्यंत असंतोषप्रद हैं। बाड़ को दोनों ओर खड़े आर्थिक सिद्धांतवादी राजकीय हस्तक्षेप या क्रमशः उदारीकरण तथा भूमंडलीकरण के जरिए स्थानीय और भूमंडलीय बाजार के जादू के पक्ष में बहस जारी रख सकते हैं। अनुभव दिखलाता है कि आंखें मूंद कर राजकीय हस्तक्षेप पर निर्भरता का परिणाम आम तौर से भ्रष्ट, अपव्ययी और बेदिमाग नौकरशाही होता है। दूसरी ओर, बाजार का जादू धनी और गरीब की परस्पर दूरी को बढ़ाता है, और गरीब को काफी दूर हाशिए पर धकेल देता है। चरम स्थितियों में न केवल सापेक्ष बल्कि निरपेक्ष निर्धनता भी आश्चर्यजनक रूप से बढ़ती है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की "शर्त युक्तताओं" के तहत अर्जेंटीना एक ताजा उदाहरण है जिसकी मीडिया में व्यापक चर्चा हुई है मगर मध्य एशिया और सहारा रेगिस्तान के इर्द-गिर्द बसे अफ्रीका में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो कम प्रत्यक्ष हैं। हमें राजनीतिक नारों, मतवादों और घिसी-पिटी बातों के पीछे छिपे बिना अत्यंत निष्ठापूर्वक नए उत्तर ढूंढ़ने चाहिए।

चूंकि हमारी चर्चा का संदर्भ भारतीय राष्ट्र राज्य है, इसलिए हमें तीन भिन्न मगर अंतर्संबद्ध स्तरों पर उत्तर ढूंढ़ने की कोशिश करनी चाहिए। ये तीन स्तर हैं : व्यक्तिगत मतदाता का व्यष्ठिगत स्तर, राज्यों के क्षेत्रीय राजनीति का मध्य स्तर और भारतीय संघ का केंद्रीय स्तर। व्यक्ति के स्तर पर सकारात्मक पक्ष में शायद सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य जिसने जनतांत्रिक

प्रक्रिया को सुदृढ़ बनाने में सहायता की है, वह है : बहुसंख्यक भारतीयों की सामान्य सामाजिक-आर्थिक गतिशीलता की समझ। पिछले छह दशकों के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था ने निरंतर यथोचित संवृद्धि की है, जीवन प्रत्याशा 1951 के 40 से कम के निराशाजनक आंकड़े से बढ़कर 2004 में 65 से ऊपर मुख्यतया शिशु मृत्यु दर में भारी गिरावट के कारण पहुंच गई है। विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के अवसरों का विस्तार हुआ है तथा बच्चों का एक अपेक्षाकृत बड़ा प्रतिशत स्कूल जाने लगा है, और निरक्षरों का प्रतिशत घट रहा है। शहरीकरण में बढ़ोत्तरी ने, जिसके तहत पहले की 17 प्रतिशत जनसंख्या की अपेक्षा अब क़रीब 30 प्रतिशत जनसंख्या शहरों में रहने लगी है, इस प्रक्रिया में विकृत रूप में योगदान किया होगा। इस बात के मद्देनजर कि शहरी क्षेत्रों को बेहतर सामाजिक-आर्थिक मूलभूत ढांचा प्राप्त है, शहरी जनसंख्या को आम तौर से कतिपय बुनियादी स्वास्थ्य सेवाएं और अपने बच्चों के लिए शिक्षा सुविधाएं प्राप्त हैं। यद्यपि कितनी सामाजिक-आर्थिक गतिशीलता मिली है यह बहस का विषय है, फिर भी दो बातों पर कम विवाद है।

पहली, इतने विस्तार और विविधता वाले देश में गतिशीलता, भले ही वह वास्तविक हो या काल्पनिक, बोध ने जनतंत्र को स्थिरता देने में काफी योगदान किया है। अंतर्राष्ट्रीय अनुभव बतलाते हैं कि कोई भी राजनीतिक व्यवस्था तब काफी दबाव में होती है जब औसत जीवन स्तर में तेज गिरावट होती है, और लोगों के बीच यह समझ बनती है कि सामाजिक-आर्थिक गतिशीलता की संभावनाएं घट रही हैं। ऐसा उदाहरण के लिए, उन कुछ देशों में आर्थिक सुधार के बाद हुआ जो पहले सोवियत संघ में शामिल थे, या फिर जर्मनी में प्रथम विश्व युद्ध (1914-1918) के बाद हुआ जिसके कारण हिटलर और नाजियों का उदय हुआ। ऐसी परिस्थितियों में वर्ग शक्तियों के संतुलन और राजनीतिक दलों की सांगठनिक शक्तियों के आधार पर तत्कालीन राजनीतिक अर्थव्यवस्था एकाएक दक्षिणपंथ या वामपंथ की ओर मुड़ सकती है। आम तौर से ऐसे नाटकीय परिवर्तन राजनीतिक व्यवस्था को अधिक असहाय बना देते हैं क्योंकि आर्थिक,

राजनीतिक और सामाजिक संस्थान काफी धीमी रफ्तार से अपने को नई परिस्थितियों के अनुरूप बना पाते हैं। यह बहस का विषय है कि क्या इस प्रकार का कुछ समाजवादी चीन में उसके द्वारा बाजार के दर्शन को उत्साहपूर्वक गले लगाने के बाद हो रहा है। यह तो केवल भविष्य ही बतलाएगा। किंतु भारतीय जनतंत्र के संदर्भ में ऐसा कुछ नहीं हुआ है। हाल के आम चुनाव के निर्णयों के हर दौर ने आर्थिक सुधारकों के जोश को ठंडा तथा सुधार प्रक्रिया को धीमा किया है। यह हमारे जनतंत्र की कमजोरी नहीं, बल्कि ताकत को प्रतिबिंबित करता है क्योंकि निर्धन और बदनसीब चुनावों के समय मुखर हो जाते हैं। किंतु यह भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के नकारात्मक पक्ष को स्पष्ट रूप से उजागर भी कर देता है। देश के अनेक भागों में चरम निर्धनता के भंवर में फंसे व्यक्तियों के मन में किसी भी प्रकार की सामाजिक-आर्थिक गतिशीलता का कोई भ्रम कतई नहीं है, और ऐसी सरकार को समर्थन देने का कोई कारण नहीं है जो केवल बाजारोन्मुखी सुधारों को ही लागू करने पर उतारू है। भारतीय जनतंत्र ने आशा और निराशा की गोधूलि बेला में अपने को स्थिर कर लिया है। ऐसा उसने बहुसंख्यक लोगों को सामाजिक-आर्थिक गतिशीलता की आशा की लौ दिखाकर, और अत्यंत गरीब अल्पसंख्यकों की नितांत निराशाजनक स्थिति की उपेक्षा कर किया है।

किंतु बहुसंख्यक लोगों के लिए भी ऊपर की ओर गतिशीलता का बोध अकसर हां मृगमरीचिका ही सिद्ध होता है। यह एक लघु संभाव्यता वाली घटना है जो केवल मुट्ठी भर भाग्यवानों के लिए ही होगी, किंतु बाजार अर्थव्यवस्था की विचारधारा बहुसंख्यक जनता के लिए यह भ्रम पाल कर ही जिंदा रह सकती है। लगातार और नियमित रोजगार ही आर्थिक सुरक्षा और ऊपर की ओर गतिशीलता का मुख्य मार्ग है। इसके बावजूद यह हाल के वर्षों की उच्च आर्थिक संवृद्धि से जुड़ी छिपी हुई बात नहीं रह गई है कि उसके अनुपात में रोजगार संवृद्धि का ब्यौरा नितांत निराशाजनक है। यद्यपि संगठित सार्वजनिक और निजी क्षेत्र मिलकर 10 प्रतिशत से भी कम भारतीय श्रमशक्ति को रोजगार प्रदान करते हैं फिर भी ऊपर की ओर

गतिशीलता का सबसे लोकप्रिय मार्ग है। उदारीकरण के विगत दो दशकों के दौरान संगठित क्षेत्र में कुल रोजगार संवृद्धि लगभग लगातार घटती गई है, वह 1981 के लगभग 2.6 प्रतिशत से गिर कर 1990 के दशक के मध्य में 1.1-1.5 प्रतिशत पर आ गई, और 1998 से वह ऋणात्मक हो गई है। ललचाई आंखों से देखे जाने वाले संगठित क्षेत्र में इस प्रकार के रोजगार परिदृश्य को देखते हुए यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि ऊपर की ओर सामाजिक-आर्थिक गतिशीलता की उम्मीदें बहुत लोगों में लंबे समय तक रहेंगीं।

माप की विभिन्न समस्याओं के कारण गैर संगठित क्षेत्र में रोजगार के अवसरों के विश्वसनीय आकलन प्राप्त करना काफी कठिन है। उदाहरण के लिए गरीब लोग काफी देर तक काम करके भी प्रति घंटा इतना कम कमा पाते हैं कि यद्यपि उन्हें समय लगाने की दृष्टि से रोजगार युक्त मगर आय की दृष्टि से बेरोजगार माना जा सकता है। इसी प्रकार लगातार रोजगार के अभाव में अनेक लोग अंशकालिक अनियमित नौकरियों से अपना गुजारा कर सकते हैं। भारतीय अर्थ व्यवस्था के असंगठित अनौपचारिक क्षेत्र में, जिसके अंतर्गत लगभग सारी कृषि, अधिकतर लघु उद्योग, और सेवा क्षेत्र का एक बड़ा भाग आता है, बेरोजगारी की समस्या को मापने से जुड़ी ये कुछ विशिष्ट समस्याएं हैं। आधिकारिक तौर पर अनुमानित आंकड़ा जो बेरोजगारी को 2-3 प्रतिशत के आसपास बतलाता है, इन मापन त्रुटियों के कारण इतना कम है कि हास्यास्पद लगता है। कम से कम यह आकलन लगभग 7-8 प्रतिशत होना चाहिए क्योंकि रोजगार के नए अवसर न कृषि में और न ही उद्योग में बल्कि सेवाओं में आ रहे हैं। यह बात शहरी और ग्रामीण, दोनों, क्षेत्रों के लिए सही है।

प्रत्यक्षतः यह उतना बुरा नहीं दिखता जब तक कि हम गहराई में न जाएं। सूचना प्रौद्योगिकी का हमारा उदीयमान सितारा बैंकिंग, बीमा और अन्य वित्तीय सेवाओं सहित मुख्य रूप से संगठित सेवा क्षेत्र में है। जैसा कि हम देख चुके हैं, इस क्षेत्र की रोजगार संबंधी उपलब्धि कुल मिलाकर निराशाजनक रही है। रोजगार की संवृद्धि नकारात्मक रही है। अनौपचारिक

क्षेत्र की असंगठित सेवाओं की प्रवृत्ति उन लोगों को अपने में समाहित करने की होती है जिन्हें नियमित काम नहीं मिलता। वह अनावश्यक वस्तुओं को डालने की जगह जैसा बन गया है। फिर भी भारत के अधिकतर राज्यों में किंचित एक-सा ढांचा उभरता है। वह भारत में बेरोजगारी की समस्या से जुड़ी निराशा को स्पष्टतया उजागर करता है। आम तौर से, जो राज्य प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से जितना ही गरीब है वहां गैरसेवा क्षेत्र की तुलना में सेवा क्षेत्र में श्रम उत्पादकता उतनी ही अधिक है। उदाहरण के लिए, बिहार और मध्य प्रदेश जैसे अधिकतर निर्धनतर राज्यों में सेवाओं के क्षेत्र में श्रम उत्पादकता (कमाई) कृषि के मुकाबले 3 से 4 गुनी अधिक है। यह आंकड़ा अखिल भारतीय औसत से काफी अधिक है। इसका अर्थ है कि कृषि में इतनी भीड़-भाड़ और ये निर्धनतर राज्य कमाई के अवसरों से इतने वंचित हैं कि सड़क पर मूंगफली बेचकर कहीं अधिक आमदनी प्राप्त की जा सकती है। इन गरीब राज्यों में प्रच्छन्न बेरोजगारों के लिए कृषि सेवाओं से कहीं अधिक कबाड़ डालने की खराब जगह है।

रोजगार सृजन की इस मनहूस तस्वीर को एक अन्य कारक कहीं अधिक मनहूस बना देता है। यह कारक है : आर्थिक उदारीकरण के क्रम में राज्य की सहायता के बिना छोटे किसानों की कृषि का व्यवसायीकरण। आंध्रप्रदेश जो विश्व बैंक की प्रदर्शन-मंजूषा था, अपने सूचना प्रौद्योगिकी पर आधारित उद्योगों की चमक के साथ 2004 के आम चुनाव के समय तत्कालीन गठबंधन सरकार के ''भारत उदय'' अभियान के क्षितिज पर सबसे देदीप्यमान नक्षत्र था। प्रेस में कभी-कभार ऋणग्रस्त अनेक किसानों द्वारा आत्महत्याओं की रिपोर्ट भी आ रही थी, परंतु विदेशी निवेश आमंत्रित करने की बाजार अनुकूल नीतियां जारी रहीं। चुनाव में जब राज्य सरकार का पूरी तरह सफाया हो गया तभी कहीं जाकर इन नीतियों के प्रति जनसाधारण का मोहभंग उजागर हुआ।

उर्ध्वगामी सामाजिक-आर्थिक गतिशीलता से मोहभंग विभिन्न कारणों से होता है। इन कारणों में रोजगार के अवसरों का अभाव या जनसंख्या के विभिन्न तबकों के ऊपर कर्ज का बढ़ता बोझ हो सकता है। क्षेत्रीय

राजनीति के निचले स्तर पर व्यक्तिगत निराशा विभिन्न प्रकार की 'पहचान राजनीति' में समाहित हो जाती है। यद्यपि पहचान के निर्माण और जोड़-तोड़ के इस राजनीतिक खेल में सभी राजनीतिक दल शामिल हैं फिर भी इसमें क्षेत्रीय भिन्नताएं हैं। किस पहचान विशेष को कोई खास दल प्रस्तुत करता और उसमें जोड़-तोड़ करता है, यह अंशतः उस क्षेत्र के सामाजिक इतिहास और अंशतः दल की विचारधारा तथा उसके प्रभाव क्षेत्र पर निर्भर होता है। किसी क्षेत्र में जाति विभाजन पहचान की राजनीति के मिलन-बिंदु बन गए हैं, और अन्याय एवं असमानताओं को जाति-राजनीति के आधार के रूप में बदल दिया गया है। इसी प्रकार शोषित कबीलाई क्षेत्र अथवा पहाड़ों के लोग बहुधा अपनी पृथक पहचान पर जोर देते हैं। कुछ अन्य क्षेत्रों में कभी-कभी स्थानीय भाषा को हिंदी के राजकीय भाषा की स्थिति के विरोध में खड़ा किया जाता है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि अनेक क्षेत्रों में राज्य में 'बाहरी' विशेषाधिकार प्राप्त अंग्रेजी भाषी और गैर अंग्रेजी भाषी 'अंतरंग' के बीच की खाई बहुधा "धरती पुत्रों" की पहचान को परिभाषित करने का आधार बन जाती है। पहचान बनाने के बाद उनके आधार पर नौकरी या शिक्षा संस्थानों में जगहों के आरक्षण पर जोर आसान हो जाता है। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि भारत की असीम विविधता पहचानों के चक्कर में डाल देने वाली किस्मों का निर्माण करती है, और राजनीतिक नेता येन-केन-प्रकारेण वोट बटोरने के खेल में अपने फायदे की दृष्टि से जोड़-तोड़ करते हैं। इसके बावजूद पहचानों की सभी राजनीति को, भले ही वे प्रत्यक्षतया कितना भी भिन्न क्यों न लगें, एक आधारभूत कड़ी जोड़ती है। वह आधारभूत कड़ी है : सामाजिक, आर्थिक गतिशीलता के प्रति व्यक्ति के मोहभंग की प्रक्रिया जो धर्म, भाषा, जाति, मानव जातिवर्ग या किसी अन्य पहचान विशेष के आधार पर परिभाषित समूह के मोहभंग में परिवर्तित कर देती है। यह संभवतया क्षेत्रीय राजनीति की सबसे उर्वरक धरती बन गई है, और कोई भी क्षेत्र अपनी विशेष पहचान को आगे रखकर केंद्रीय सरकार द्वारा भेदभाव का मामला बना सकता है।

रोजगार सृजन और गरीबी निवारण के क्षेत्र में भारत की कमजोर

प्रगति को देखते हुए पहचानों की राजनीति ने भारत के संघीय ढांचे को काफी दबाव में ला दिया होता मगर इस प्रक्रिया की धार को केंद्र में उभरी गठबंधन राजनीति के कतिपय अनचाहे परिणामों ने कुंद कर दिया है। आज एक छोटी क्षेत्रीय पार्टी को भी केंद्र में प्रतिनिधित्व का अवसर मिल सकता है। वह सत्तारूढ़ गठबंधन में साझेदार बन सकती है, या अगर विपक्षी गठबंधन का हिस्सा है तो यह अवसर उसे भविष्य में मिल सकता है। सुदृढ़ क्षेत्रीय पहचान और आधार वाली पार्टियों का केंद्र में राजनीतिक सत्ता की भागीदारी को लेकर ऐसा दावा हो गया है जैसा पहले कभी नहीं था। हम भारतीय राजनीति में ऐसी परिघटना देख रहे हैं जैसी टिप्पणीकारों ने पहले कभी नहीं देखी थी। भारतीय संघीय ढांचा पहले से कहीं अधिक सुदृढ़ है, किंतु गठबंधन के साझेदारों की खींचातानी के कारण अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली है!

फिर भी, केंद्रीय स्तर पर गठबंधन बनाने के लिए एक व्यापक, सर्वसमाहित पहचान आवश्यक है। राष्ट्र राज्य के युग में 'राष्ट्रवाद' हवा की तरह हो गया है जिसमें हम अचेतनमन से सांस लेते जाते हैं जब तक वह बुरी तरह प्रदूषित न हो। भाजपा ने जिसे ठीक ही तीन 'ह' हिंदू, हाईकास्ट (उच्च जाति) और हिंदी की पार्टी कहा जाता था, इन समूह विशेष की पहचानों से बाहर निकलने के लिए सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर 'हिंदुत्व' की पहचान बनाई है। कांग्रेस जिसने उपनिवेश विरोधी संघर्ष के दिनों से ही धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद की विचारधारा को विरासत में प्राप्त किया था, राष्ट्रवाद की अपनी रूपरेखा को मुकाबले में पेश कर सकती थी। परंतु उसने अपनी विश्वसनीयता गंवानी शुरू कर दी क्योंकि उसने संकट के समय समुचित कदम नहीं उठाए और धर्मनिरपेक्षता के सवाल पर दोटूक कदम न उठाना उसे राजनीतिक तौर पर अधिक सुविधाजनक लगा। उदाहरण के लिए उसने सिख विरोधी दंगों (1984) और बाबरी मस्जिद विध्वंस (1992) के समय ऐसा ही किया। निश्चित रूप से वामपंथ का सांप्रदायिक मोर्चे पर आचरण बेहतर रहा है। इसके बावजूद वह अधिकांशतया थोड़े से राज्यों वाले अपने गढ़ में सिमट गया है। उसने वर्ग-एक जुटता पर आधारित

'अंतर्राष्ट्रीयता' को त्याग दिया है, और अपने वक्तव्यों में किसी भी अन्य दल की तरह राष्ट्रवादी हो गया है। उदाहरण के लिए हम पूर्वोत्तर राज्यों से जुड़े कुछ मुद्दों पर उसके वक्तव्यों को ले सकते है। वामपंथी राष्ट्रवाद की विशिष्ट पहचान आर्थिक घटक है। वह राज्य की अपेक्षाकृत बड़ी आर्थिक भूमिका का पक्षधर है, और मुख्यतया संगठित क्षेत्र के श्रमसंघों के तहत आने वाले मजदूरों के अधिकारों पर अपना ध्यान केंद्रित करता है। फिर भी, वामपंथ राष्ट्रवाद की रूपरेखा को गरीब हितैषी उच्च संवृद्धि वाली नीतियों के साथ कैसे जोड़ा जाए, यह बतलाने में विफल रहा है। दूसरे अन्य दलों की तरह ही उसका 'लोकवाद' राज्य की पुनर्वितरणात्मक कृपा पर आधारित है। उसने वर्ग एक जुटता और अंतर्राष्ट्रवाद की जगह वस्तुतः उदारीकरण और भूमंडलीकरण की प्रभावी विचारधारा को अपना लिया है। सोवियत संघ के पतन और चीन एवं वियतनाम की आर्थिक नीतियों में परिवर्तन के बाद उसके पास उसका कोई वैकल्पिक आर्थिक माडल नहीं है।

आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण ने भानुमती का पिटारा ही खोल दिया है कि भारत में हमारे राष्ट्रवाद का आर्थिक सारतत्त्व क्या हो। धर्मनिरपेक्ष बनाम गैर धर्मनिरपेक्ष राजनीति एक निर्णायक मुद्दा है और वह आज की राजनीति का केंद्र बिंदु बन गया है। वह इस महत्त्वपूर्ण मुद्दे से जुड़ा है कि अल्पसंख्यकों के अधिकारों को कैसे अधिकार दिया जाय। यह किसी भी सभ्य जनतंत्र को परिभाषित करने वाला मुद्दा है। फिर भी, उसका आर्थिक सारतत्त्व अपेक्षाकृत कम है,और हमारे सम्मुख धर्मनिरपेक्ष राजनीति के वेश में बाजार परस्त और गरीब विरोधी आर्थिक नीतियों के अनुसरण का खतरा प्रस्तुत है जो भारत के दीर्घकालीन विकास को संकट में डाल देगा।

इस विचारधारा के केंद्र बिंदु में राज्य को पीछे धकेलने के प्रयास के द्वारा उदारीकरण के जरिए बाजार में निजी खिलाड़ियों के लिए अधिक स्थान बनाना है। निजीकरण लगभग इस अंधविश्वास पर आधारित होता है कि निजी क्षेत्र हमेशा ही सार्वजनिक क्षेत्र से बेहतर होता है। और, एक कदम बढ़ें तो कुछ लोगों का दावा है कि विदेशी कंपनियां निरपवाद रूप से भारतीय कंपनियों से बेहतर हैं। इस प्रकार, वे हमारी उत्पादक क्षमता

के निर्माण, प्रौद्योगिकी और, यहां तक कि प्रबंधन को आधुनिक बनाने के लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियों, विदेशी सलाहकारों और विदेशी निवेश पर अनावश्यक रूप से हमारी निर्भरता बढ़ाना चाहते हैं। परिणामस्वरूप हम भूमंडलीकरण के आवश्यक सहवर्ती के रूप में राष्ट्रीय के बदले अंतर्राष्ट्रीय बाजार को महत्व देते हैं। ये मुद्दे हैं जिनका सामना आज हर दल को करना है। इनको दरकिनार नहीं किया जा सकता। बिना उसके आर्थिक सारतत्त्व को, विशेषकर इन महत्वपूर्ण मुद्दों के संदर्भ में परिभाषित किए राष्ट्रवाद खोखला है। प्रतिष्ठापूर्ण विकास राष्ट्रवाद के इस पहलू को परिभाषित और क्रियाशील करने का इरादा रखता है। सिर्फ इसी रास्ते से हम अत्यंत राजनीतिक प्रश्न का कोई आर्थिक उत्तर दे सके हैं कि किस प्रकार गरीब परस्त उच्च संवृद्धि के तर्क संगत अर्थशास्त्र को व्यावहारिक राजनीति के साथ जोड़ सकते हैं। अन्यथा 'राष्ट्रवाद' या 'देशभक्ति' जैसे शब्द सारतत्त्वहीन नारे भर होंगे।

IV

प्रतिष्ठापूर्ण विकास : निर्धारक मुद्दे

विकास के एक नए मार्ग का निर्माण गरीबों के लिए विकास और प्रतिष्ठा, दोनों, की दृष्टि से समान रूप से महत्वपूर्ण है। परंपरागत समाजवादी माडल मुख्यतया राज्य से सीधे या रोजगार का कोई जरिया प्रदान कर आय के हस्तांतरण की क्रियाविधि पर आधारित था। इसका अर्थ था कि प्रत्येक नागरिक को एक न्यूनतम आय प्राप्त हो। जहां तक नियमित आय कमाने का संबंध था हर व्यक्ति काम पर लगा होता था। फिर भी लगभग सारा रोजगार अत्यधिक भीड़ वाले राजकीय क्षेत्र, यानी प्रशासन अथवा राजकीय उद्यम, में होता था। अनेक समाजवादी देशों के मजदूरों के बीच भी एक प्रचलित मजाक था, "वे हमें भुगतान करने का स्वांग भरते हैं, तो हम काम करने का अभिनय करते हैं।" इसके बावजूद समाजवादी प्रणाली की विशेषता ऊंचे स्तर का राजकीय कल्याण थी। हर व्यक्ति जिसे इस प्रत्यक्षतया पूर्ण रोजगार वाले समाज में नौकरी मिली होती थी स्वास्थ्य बीमा, बच्चों के लिए शिक्षा और वृद्धावस्था पेंशन के रूप में सामाजिक सुरक्षा का हकदार होता था, जो उसे काम पर लगाने वाले राजकीय उद्यम देते थे। विशेषाधिकार युक्त पार्टी के कारकुनों को छोड़ दें तो वास्तविक जीवनस्तर में समानता की दृष्टि से कई स्थितियों में समाजवादी देशों की उपलब्धियां काफी अधिक थीं और उन्होंने अपने एक औसत नागरिक को अधिकतर बाजार आधारित अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में काफी कुछ अधिक दिया था। इसके बावजूद

उस आर्थिक जनतंत्र के जरिए समानता जिस पर समाजवादी व्यवस्था ने वैचारिक दृष्टि से सबसे अधिक जोर दिया, संघातिक रूप से दोषपूर्ण सिद्ध हुई। वह न केवल राजनीतिक दृष्टि से बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी दोषपूर्ण थी। राजनीतिक तौर पर वह ऐसी प्रक्रिया का पोषण नहीं कर सका जिसके जरिए आर्थिक और राजनीतिक जनतंत्र को साथ लाकर एक अधिक न्यायोचित समाज का निर्माण किया जा सके। न ही आर्थिक समानता और न ही राजनीतिक जनतंत्र अकेले सब नागरिकों को प्रतिष्ठा देने में सक्षम है। दोनों को एक साथ चलना होगा।

समाजवादी देशों में राजनीतिक जनतंत्र की उपेक्षा कर आर्थिक जनतंत्र पर जोर भारतीय अनुभव के लगभग विपरीत था। जनतांत्रिक भारत ने स्वतंत्रता के तुरंत बाद राज्य के नेतृत्व में चलने वाले औद्योगीकरण के कार्यक्रम पर काफी जोर दिया था, किंतु वह ऐसे पूर्ण रोजगार प्राप्त समाज की ओर बढ़ने का मार्ग नहीं बना सका जहां सभी को स्वास्थ्य, शिक्षा और सामाजिक सुरक्षा प्राप्त हो। यह बात तब से लेकर अब तक लागू है। भारत ने अपने नागरिकों को राजनीतिक अधिकार तो दिए हैं मगर आर्थिक उदारीकरण सहित या रहित सम्मानजनक जीविका के आर्थिक अधिकार नहीं दिए हैं। आज हमें यह भी मालूम है कि न ही बाजार आधारित पूंजीवाद और न ही राजकीय समाजवाद अपने परंपरागत रूप में इसका उत्तर दे सकता है।

आर्थिक मोर्चे पर परंपरागत समाजवादी माडल कालक्रम में गंभीर रूप से कमजोर साबित हुआ। राज्य के जरिए आय के हस्तांतरण ने, जो निरपवाद रूप से जोर जबर्दस्ती पूर्ण प्रशासनिक हस्तक्षेप की ओर ले जाता है, दो समस्याओं को जन्म दिया। बाजार उन्मुख अर्थशास्त्री सही बतलाते हैं कि वह व्यवस्था को व्यक्तिगत पहल और प्रोत्साहन से वंचित करता और अवहनीय सबसिडी (अनुपूर्ति) की दृष्टि से वर्धमान बजटीय समस्याओं की ओर ले जाता है। आजकल प्रायः हर जगह इन बिंदुओं पर सार्वजनिक उद्यमों के निजीकरण संबंधी बहस के दौरान जोर दिया जाता है। यह बात केवल भारत के संदर्भ में ही नहीं, बल्कि चीन और वियतनाम में जारी आर्थिक उदारीकरण के संदर्भ में भी कही जा सकती है। वे जैसे-जैसे केंद्रीय नियोजन

और राज्य द्वारा आयोजित कल्याण व्यवस्था से उत्तरोत्तर अलग होते जा रहे हैं, वैसे-वैसे बड़ी सख्ती से परंपरागत एक दलीय राजनीतिक व्यवस्था से चिपकते जा रहे हैं। जिस प्रकार भारत राजनीतिक जनतंत्र को थोड़े आर्थिक जनतंत्र से जोड़ने की दुविधा को लेकर परेशान है उसी प्रकार वे विपरीत दुविधा का सामना कर रहे हैं। उनकी दुविधा है : अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के साथ ही राजनीतिक जनतंत्र को थोड़े अंश में भी लागू करने की कठिनाई।

एक दलीय व्यवस्था के साथ बंधे होने और साथ ही अर्थव्यवस्था का उदारीकरण करने के क्रम में विभिन्न समाजवादी देशों के अनुभवों में महत्वपूर्ण अंतर रहे हैं। पूर्वी यूरोप के पूर्व समाजवादी देशों और सोवियत संघ में एक दलीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के साथ ही आर्थिक नीतियों ने शीघ्र अपनी दिशा में भारी बदलाव किया। इसे अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक और कतिपय प्रसिद्ध अमेरिकी विश्वविद्यालयों ने बड़े जोश-खरोश से आगे बढ़ाया। उनके विशेषज्ञ हाल में ही धराशायी हुए समाजवादी शासन वाले राज्यों की लगातार यात्राएं करने लगे थे। वहां उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रचलित बाजार विचारधारा का ही एक रूप प्रचारित किया। उसका दावा है कि राजनीतिक जनतंत्र का अर्थ व्यक्ति को धनी बनने की आजादी देना है। यह व्यक्ति का दोष है कि मुक्त प्रतिद्वंद्विता वाली प्रणाली में धनी बनने में विफल रहता है। बाजार की विचारधारा राज्य को निर्देशित करती है कि राज्य अपने कार्यक्षेत्र को अपनी आर्थिक एवं वितरणात्मक गतिविधियों में यथासंभव कटौती कर समेटे जिससे 'योग्य' व्यक्ति को पैसे बनाने के लिए जगह और प्रोत्साहन मिले।

यह विश्व-दृष्टि धराशायी हुए समाजवादी शासन वाले दफ्तरशाही के चंगुल में फंसे और राज्य द्वारा नियंत्रित आर्थिक जीवन के बिल्कुल विपरीत थी, और आम जनता को पहली नजर में आकर्षक लगी। इसका परिणाम अपरिपक्व पूंजीवाद के रूप में उभरा जिसने मुट्ठीभर अतिसमृद्ध व्यक्तियों को जन्म दिया। रूस में अल्पतंत्र के सदस्यों के नवधनाढ्य वर्ग ने भ्रष्ट तरीकों से मिट्टी के मोल सार्वजनिक क्षेत्र की परिसंपत्तियों को खरीद कर निजीकरण से असीमित फायदा उठाया। उन्होंने राज्य और दल के संगठनात्मक

यंत्र के साथ अपने पुराने संबंधों से लाभ उठाया। साथ ही राज्य एवं सार्वजनिक क्षेत्र की सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था के समेटे जाने के कारण जनसंख्या का एक महत्त्वपूर्ण भाग आर्थिक हताशा और गरीबी में धकेल दिया गया जिससे लोग दफ्तरशाही के दबदबे वाले समाजवादी शासन के दौरान सर्वथा अपरिचित थे। जिन सरकारों ने बाजार की विचारधारा से शासित इन चरम नीतियों का अनुसरण किया वे आम चुनावों में जल्द ही अपनी विश्वसनीयता खो बैठीं।

चीन और वियतनाम में तसवीर कुछ अलग ही है। बाजार उन्मुखी नीतियां लागू कर वे एक भिन्न अनुक्रम का अनुसरण कर रहे हैं। वहां बाजार उन्मुखी नीतियों का नियंत्रण एक दलीय शासन प्रणाली द्वारा सख्ती से किया जाता है। उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार क्षेत्रों, पेशों और व्यक्तियों के बीच असमानताएं तेजी से बढ़ी हैं और दोनों देशों में पहली बार खुली बेरोजगारी प्रकट हुई है। राज्य और पार्टीतंत्र द्वारा आर्थिक उदारीकरण पर नियंत्रण के बावजूद बुनियादी स्वास्थ्य सेवाओं और शिक्षा तक पहुंच में अनेक क्षेत्रों में काफी गिरावट आई है, खासकर उन लोगों की पहुंच कमजोर हुई है जिनके पास राजकीय क्षेत्र में नियमित रोजगार नहीं हैं। किसी भी तरह के राजनीतिक उदारीकरण के बिना आर्थिक उदारीकरण का चीनी अनुक्रम इस प्रश्न का उत्तर नहीं देता कि आर्थिक और राजनीतिक जनतंत्र का परस्पर मेल कैसे बैठाया जाए।

केंद्रीय नियोजित अर्थव्यवस्थाओं से बाजार व्यवस्था की ओर संक्रमण के अनुभव हम भारतीयों को एक महत्त्वपूर्ण सबक सिखाते हैं। इन अनुभवों में एक विशेष विडंबना है जिसे भारतीय उदारीकरण के समर्थक और विरोधी, दोनों, नजरअंदाज कर देते हैं। यह विडंबना इस तथ्य से पैदा होती है कि अनियंत्रित उदारीकरण यदि समाजवादी नारों के तहत चलाया जाय तो भी स्पष्ट विषमताओं को जन्म देता है जिनसे राज्य को निपटना होता है। यह किसी विकासशील देश की अर्थव्यवस्था के उदारीकरण में राज्य की भूमिका के विषय में मनोविदलित दृष्टिकोण पैदा करता है। दूसरी ओर इसी तर्क की भी यही अपेक्षा है कि राज्य की आर्थिक भूमिका बाजार को बढ़ावा

देने के उद्देश्य से सुदृढ़ की जाय। यह दलील दी जाती है कि राज्य आर्थिक गतिविधियों के संचालन में अकुशल और स्वार्थी होता है। इसलिए उसकी आर्थिक भूमिका यथासंभव न्यूनतम करने में ही समझदारी है। इस सामान्य समझ के आधार पर सार्वजनिक उद्यमों के निजीकरण की वकालत की जाती है जिससे राजकोषीय घाटे को नियंत्रित करने और 'युक्तियुक्त' सार्वजनिक वित्त, निजी पहल और निगम निवेश को प्रोत्साहित करने के लिए कर की दरों में कमी, केंद्रीय बैंक (भारतीय रिजर्व बैंक) से सरकार द्वारा ऋण लेने (घाटे की वित्त व्यवस्था) पर रोक लगाकर केंद्रीय बैंक की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने, और इसी प्रकार के कई उपायों के नाम पर राज्य के व्यय को कम किया जा सके। आज की प्रबल विचारधारा में अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक जैसी संस्थाओं द्वारा समर्थित इन नीतियों के बारे में मान्यता है कि वे उच्चतर संवृद्धि एवं समृद्धि के दरवाजे को खोलने के लिए जादुई चाभी प्रदान करेंगीं। इसके बावजूद वही विचार जो परंपरागत आर्थिक गतिविधियों के संचालन में राज्य को अक्षम मानता है, उसी राज्य से अपेक्षा रखता है कि वह बिना भ्रष्टाचार, रिश्वत और कमीशन के निजीकरण, और बहुराष्ट्रीय निगमों से निवेश आकर्षित करने जैसे अपेक्षाकृत काफी जटिल आर्थिक कार्यों को संपन्न अथवा शेयर बाजार में अंतरंग व्यापार जैसे दुर्गुणों की रोकथाम करे। इसी विचार का विश्वास है कि जिस राज्य को वैसे अविश्वसनीय माना जाता है, उसी की वैधता के साथ समझौता नहीं किया जाएगा क्योंकि वह ईमानदारीपूर्वक श्रम बाजार के लचीलेपन को लागू कर सकता है। इस दोहरी दृष्टि को अपनाने के लिए किसी भी व्यक्ति को मानसिक रूप से थोड़ा कुछ बहकना होगा कि वही राज्य जो कोई उद्यम अथवा सार्वजनिक सेवा के संचालन में तो अक्षम है, मगर कहीं अधिक अपेक्षा रखने वाले कार्यों के लिए पूरी तरह सक्षम है! और इसी जगह चीन या वियतनाम के सबक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। वे बड़ी होशियारी से काम कर रहे हैं। एक तरफ तो वे अर्थव्यवस्था का उदारीकरण कर रहे हैं जिससे असमानता बढ़ रही है, मगर वहीं दूसरी ओर, एक ताकतवर एकदलीय राज्य के जरिए सब प्रकार की राजनीतिक असहमति पर सख्त नियंत्रण बनाए

हुए हैं। राज्य राजनीतिक असहमति की तंग क्षम्य सीमाओं के अंतर्गत आर्थिक उदारीकरण की शर्तों का विधान करता है। उदाहरण के लिए, मजदूरों को सामान्यतया हड़ताल करने का अधिकार नहीं होता, विशेषकर तब जब विदेशी निवेश का सवाल हो। बड़ी सिंचाई या औद्योगिक परियोजनाओं के कारण अपने घरों से विस्थापित लोगों को अपनी समस्याएं उठाने का कोई राजनीतिक अधिकार नहीं होता। अनेक क्षेत्रों में राज्य द्वारा बुनियादी स्वास्थ्य एवं शिक्षा सुविधाओं को मनमाने ढंग से समाप्त करने के प्रति विरोध जताने का कोई तरीका नहीं है। याद रहे कि ये सुविधाएं समाजवादी शासन के आरंभिक चरण के दौरान दी गई थीं।

यह स्थिति भारतीय परिदृश्य से भिन्न है। हमारा कार्यशील जनतंत्र जिसको वर्षों तक पालन-पोषण कर सुदृढ़ बनाया गया है असहमति की इजाजत, कम से कम सिद्धांततया अवश्य देता है। परिणामस्वरूप भारत अपनी असीमित विविधता के साथ ही 'लाखों बगावतों' का भी देश बन गया है। यही हमारी ताकत है; और जहां तक तेजी से आर्थिक कार्यकुशलता के अनुरूप न होने की बात है यही हमारी कमजोरी भी है। किंतु हम इस प्रत्यक्ष कमजोरी को अपनी अजेय शक्ति के रूप में बदल सकते हैं जब हम इस बात को स्वीकार करें कि केवल आर्थिक कुशलता ही भारत की आर्थिक समस्याओं का समाधान नहीं है। निर्णय करने की जनतांत्रिक प्रक्रिया की धीमी गति एक स्थिर और व्यवहार्य भागीदारी प्रक्रिया में बदलने की क्षमता रखती है जिसमें हाशिए पर चले गए लोगों और गरीबों को शामिल किया जा सकता है और वे उन निर्णयों को लेने की प्रक्रिया में भाग लें जो उन्हें सीधे तौर पर प्रभावित करते हैं।

एक सच्ची भागीदारी वाली जनतांत्रित प्रक्रिया का प्रभाव राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय, दोनों, स्तरों पर होता है। हम राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों को भिन्न रोशनी में देख सकते हैं। उदाहरण के लिए भारत और चीन की आपसी दौड़ को केवल विकृत राष्ट्रवाद के रूप में नहीं देखा जा सकता है कि कौन देश तेजी से संवृद्धि करता, या जल्दी महाशक्ति बन जाता है। भारत में हमारा उद्देश्य विकास का ऐसा मार्ग बनाना होना चाहिए जो

उसे एक नई रोशनी में प्रस्तुत करे। हमारा उद्देश्य ऐसा होना चाहिए जो जनता विशेषकर हमारे देश के गरीब लोगों, की भागीदारी वाले जनतंत्र को गरीबों के हित में वर्षों तक चलने वाली उच्च संवृद्धि दर के साथ जोड़े। दूसरे शब्दों में, यथासंभव अल्पतम समय में आर्थिक और राजनीतिक जनतंत्र लाकर हम अपने सभी नागरिकों को मानवीय प्रतिष्ठा देने की दौड़ में शामिल हैं। इसका यह गलत मतलब नहीं निकाला जाना चाहिए कि लोगों के अधिकारों, पर्यावरण, अपनी जनतांत्रिक प्रणाली, और अपनी शैली में विकास करने की सार्वभौम स्वतंत्रता के लिए असहनीय लागत देकर यथासंभव तेज गति से संवृद्धि की दौड़ लगाएं। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यह दौड़ किसी भी लागत पर अधिकतम विदेशी निवेश आकर्षित करने के लिए नहीं है। इसके बदले हमें यह दृष्टिकोण अपनाना चाहिए जिसके आधार पर यह भेद कर सकें कि कौन-सा निवेश प्रतिष्ठा सहित विकास के उद्देश्य को प्राप्त करने में सहायक और कौन-सा निवेश बाधा डालता है। कहना न होगा कि इसके लिए अर्थव्यवस्था, राज्य प्रणाली और समाज की एक भिन्न तस्वीर से युक्त एक मार्गदर्शक मानचित्र की आवश्यकता है जिसकी सहायता से इस लक्ष्य की ओर बढ़ सकें। इस मार्गदर्शक मानचित्र का आधार निश्चित रूप से एक भिन्न आर्थिक माडल होना चाहिए। इसमें संवृद्धि दर को बढ़ाने के साथ ही आर्थिक विकास में भागीदारी जनतांत्रिक प्रक्रिया को फैलाने तथा गहरा करने की क्षमता होनी चाहिए। और यह अपने जनतंत्र के औपचारिक प्रातिनिधिक पहलू के जरिए ही प्राप्त नहीं किया जा सकता है। वह तो हमारे यहां मौजूद है।

विकास में भागीदारी वाली जनतांत्रिक प्रक्रिया का सार उत्पादक और उपभोक्ता, दोनों, के रूप में निर्धनतम और अत्यंत अपेक्षित लोगों के लिए आर्थिक भूमिका निर्धारित करने की हमारी क्षमता में निहित है। गरीब लोग खैरात लेने वाले निष्क्रिय व्यक्ति नहीं होंगे बल्कि विकास की प्रक्रिया में सक्रिय योगदान करेंगे। हमारा मानसिक दृष्टिकोण बदलना चाहिए जिससे हम इस वास्तविकता को स्वीकार करें कि राज्य और उसके नागरिकों के बीच संरक्षक-यजमान का रिश्ता वांछनीय नहीं है, शायद दीर्घकाल में टिकाऊ

भी नहीं है। पूर्व समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं के अनुभव से यह केंद्रीय सबक ग्रहण करना चाहिए। साथ ही, बाजार केंद्रित बिना सोचा-समझा सुधार भी भारत में सांघातिक रूप से दोषपूर्ण होगा। उसमें गरीबी से ग्रस्त विशाल जनसंख्या वाले एक जनतांत्रिक देश में असमानताओं को प्रबलित करने की ही प्रवृत्ति नहीं है बल्कि बाजार उन्मुख सुधार की मूल बनावट यह मानने में विफल होता है कि उनकी सक्रिय भागीदारी के बिना वास्तविक विकास कतई संभव नहीं है। बाजार उन्मुखी सुधार के प्रहार को कम करने के लिए सेफ्टीनेट (सुरक्षा उपकरण) या खैरात जैसे विचार उत्तर नहीं हैं क्योंकि वे संरक्षक-यजमान माडल अथवा असहनीय असमानताओं और गरीबों की अधिकाधिक संख्या को हाशिए पर डालने की दिशा में ले जाते हैं। एक विशाल निर्धन जनसंख्या को सेफ्टीनेट के अंतर्गत लाने से सरकार और देश के संसाधनों पर भारी दबाव पड़ेगा, और गरीबों को प्रतिष्ठा दिए बिना ही विकास की गति धीमी हो जाएगी। यह वह प्रश्न नहीं है जो कभी-कभी आर्थिक संवृद्धि और विकास के प्रति दृष्टिकोण के संदर्भ में "ट्रिकल डाउन' (रिसकर टपकना) बनाम 'बाटम अप' (ऊर्ध्वमुखी) के रूप में उठाया जाता है। यह भ्रामक अंतर है।

वस्तुतः राज्य अथवा बाजार के किसी भी अधिकारी को यह निर्णय लेने का अधिकार नहीं होना चाहिए कि फायदे ऊपर से रिसकर नीचे टपकें या नीचे से ऊपर जाएं क्योंकि फायदे लोगों को उनकी भागीदारी के अधिकार के बतौर मिलने चाहिए। इसलिए मुख्य मुद्दा विकास की प्रक्रिया में व्यापकतम भागीदारी का है। इसकी मुख्य चारित्रिक विशेषता हर नागरिक के कर्तव्य और विकास की प्रक्रिया में भाग लेकर फायदा उठाने के अधिकार के बीच अन्योन्य संबंध के रूप में होनी चाहिए। यह मूलभूत कसौटी भी है जिसके आधार पर आर्थिक विकास के वैकल्पिक माडलों के बारे में निर्णय करना चाहिए।

जैसा कि अनेक अन्य विकासशील देशों में है वैसे ही भारत के सिलसिले में भी दो विरोधी पथप्रदर्शक मानचित्र और दो प्रतिद्वंद्वी आर्थिक माडल अपने को प्रस्तुत करते हैं। पहला इस विचार की दुहाई देता है कि देश में अर्थव्यवस्था

के उदारीकरण और भूमंडलीकरण के जरिए विश्व अर्थव्यवस्था के साथ पूर्ण एकीकरण का कोई विकल्प नहीं है। इसका यह भी निहितार्थ है कि विश्व व्यापार संगठन की व्यापार व्यवस्था, भारी मात्रा में विदेशी निवेश की अपरिहार्यता, और बिना नानुकुर किए धनी और औद्योगिक ओ. इ. सी. डी. (आर्गेनाइजेशन आफ इकानामिक कोआपरेशन एंड डेवलपमेंट) देशों द्वारा निर्धारित नियमों को स्वीकार करना होगा। इसके मूल आर्थिक तर्क को संक्षेप में रखा जा सकता है। वह आंतरिक बाजार की तुलना में विदेशी बाजार के महत्व को अपेक्षाकृत बढ़ाना चाहता है। चूंकि कुल विश्व बाजार का आकार निश्चित रूप से भारतीय राष्ट्र राज्य के नियंत्रण से बाहर है, इसलिए विश्व बाजार में हमारी हिस्सेदारी बढ़ाने पर जोर देने का मामला बनाया जाता है। इस लक्ष्य को अंतर्राष्ट्रीय बाजार में लागत के आधार पर प्रतिस्पर्धा की शक्ति को मजदूरी नियंत्रित कर, और मजदूरों की संख्या में कमी, निजीकरण, हड़तालों पर पाबंदी तथा ऐसे ही अन्य तरीकों से उच्चतर श्रम उत्पादकता हासिल कर प्राप्त किया जा सकता है। मूल तर्क पूरी अर्थव्यवस्था पर निगम प्रबंधन के विचारों को लागू करना है। यह मानकर चला जाता है कि राष्ट्र एक निगम है और अर्थव्यवस्था का उद्देश्य लागतों में कमी लाकर प्रतिद्वंद्वी व्यापारी राष्ट्रों को मात देना तथा अंतर्राष्ट्रीय बाजार में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाना है जबकि अंतर्राष्ट्रीय बाजार का कुल आकार निर्दिष्ट है।

'स्थिरीकरण' के लिए अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के 'शर्त विधान' का आधारभूत तर्क, अथवा विकासशील देशों के लिए विश्व बैंक का 'संरचनात्मक समंजन' पैकेज इसी विचार के काफी अनुकूल है। किंतु सामान्य रणनीति के रूप में यह तर्क दोषपूर्ण है क्योंकि एक निगम विशेष के लिए प्रयुक्त व्यष्टि तर्क में एक गंभीर समष्टि दोष है जिसे नजर अंदाज नहीं करना चाहिए। यह इस तकलीफदेह तथ्य को दरकिनार कर देता है कि निर्यात अधिशेष पैदा करने, और भूमंडलीय बाजार में अपेक्षाकृत बड़ी हिस्सेदारी पाने के लिए प्रतिस्पर्धात्मक लागत कटौती के शून्य-योग खेल में एक ही समय सभी देश विजेता नहीं हो सकते। यह नीति अनेक अवसरों पर निश्चित

रूप से विफल होगी, क्योंकि कुछ देशों के निर्यात अधिशेष का अर्थ होगा अन्य देशों के लिए आयात अधिशेष। इतना ही नहीं, चूंकि अधिकतर विकासशील देश एक जैसी निर्यात की वस्तुएं पैदा करते हैं इसलिए उनके बीच प्रतिद्वंद्विता अपेक्षाकृत कड़ी होगी और अनेक विकासशील देशों को घाटा उठाना पड़ेगा। इस नीति का एक ही पूर्वानुमानित परिणाम विकासशील देशों के बीच 'पतन के लिए दौड़' के रूप में हो सकता है, क्योंकि हर देश दूसरों से अलग रहकर विश्व बाजार में अपेक्षाकृत बड़ी हिस्सेदारी लेने की कोशिश करेगा। इस प्रक्रिया में वे मजदूरी घटाने, बिना मजदूरी बढ़ाए काम के घंटों को बढ़ाने, मजदूरों के अधिकारों को प्रतिबंधित करने, पेंशन और सामाजिक सुरक्षा को नकारने तथा श्रम बाजार के लचीलेपन के नाम पर नियमित रोजगार को दिहाड़ी रोजगार में बदलने की कोशिश करेंगे। इस माडल के नाम पर इन सबको सही ठहराया जाएगा क्योंकि विश्व बाजार में अपना शेयर जो बढ़ाना है।

बहुराष्ट्रीय निगमों को, विश्व व्यापार संगठन से जुड़ी वार्ताओं आदि में विभिन्न रियायतें देने के रूप में 'पतन के लिए दौड़' अलग ढंग से विदेशी निवेश आकर्षित करने के नाम पर प्रकट होगी। इस माडल के समर्थक व्यापक तौर पर यह दलील देते हैं कि सभी रूपों में विदेशी निवेश आवश्यक है क्योंकि वह बहुमूल्य विदेशी विनिमय लाने के साथ ही प्रौद्योगिकी, प्रबंधन और कौशल को आधुनिकतम बनाता है। जिन लोगों ने बाजार उन्मुखी सफल विकास के अनुभवों की गहराई से छानबीन की है उन्हें यह मानने में देर नहीं लगेगी कि यह दलील एक भ्रामक अतिसरलीकरण है। न ही जापान ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद और न ही दक्षिण कोरिया ने, कोरियाई लड़ाई के कमोबेश एक दशक के बाद विदेशी निवेश के प्रति खुले दरवाजे की नीति अपनाई। एक आम नीति के रूप में उन्होंने अपनी प्रौद्योगिकियों को मुख्यतया लाइसेंसों की खरीद के जरिए आधुनिकतम बनाने की कोशिश की। उनके संदर्भ में संभवतः यह बहुत निर्णायक बात रही कि तत्कालीन भूराजनीति ने उन्हें विशाल अमेरिका में निर्यात के निर्बाध प्रवेश की अनुमति दी जिससे वे निर्यात-प्रेरित विकास का रास्ता अपना सके।

हमें यह अवश्य ही महसूस करना चाहिए कि विकास के अनुभव विविध प्रकार के हैं, और विदेशी निवेश ने कुछ मामलों में सहायता दी है तो अन्य में विकास की प्रक्रिया में बाधा पहुंचाई है। आर्थिक सिद्धांत का एक मुख्य उद्देश्य इस प्रकार के भ्रामक अतिसरलीकरण से बचाव करना है जिसके शिकार राजनीतिज्ञ एवं जनमत बनाने वाले खास तौर पर हो जाते हैं। मुद्दा इस बात की स्पष्ट समझदारी रखने का है कि विदेशी निवेश की मात्रा में वृद्धि अपने आप में लक्ष्य नहीं है। एकतरफा नारों से अभिभूत हुए बिना अपने विकास संबंधी लक्ष्यों के साथ विदेशी निवेश के मेल की दृष्टि से देखना चाहिए।

जापान अथवा कोरिया के सफल अनुभवों के कतिपय अन्य पहलू हैं जो कम विवादास्पद हैं। दोनों देशों ने विदेशी निवेश पर बिना निर्भर हुए सामाजिक एवं आर्थिक आधारभूत ढांचे पर भारी निवेश किया। जापान ने लगभग एक दशक से अधिक अवधि के दौरान अपने बजट का लगभग 40 प्रतिशत सामाजिक और आर्थिक आधारभूत ढांचे में निवेश किया। आज भारत तब के जापान या दक्षिण कोरिया की तुलना में प्रौद्योगिक क्षमता और औद्योगिक विकास की काफी उन्नत अवस्था में है जिससे वह इस प्रकार के आधारभूत ढांचे का निर्माण कर सके। फिर भी हमें राजनीतिज्ञों के इस आर्तनाद को सुनकर आश्चर्य होता है कि आधारभूत ढांचे का तेज गति से विकास विदेशी निवेश के बिना संभव नहीं है। इसका उद्‌गम वह मिथ्या सिद्धांत है जिसके अनुसार सरकार के पास पर्याप्त 'पैसे' नहीं हैं और राजकोषीय घाटा कम होना चाहिए भले ही घरेलू अर्थव्यवस्था के पास इस निवेश के लिए भौतिक क्षमता हो।

एक निश्चित ब्याज दर पर विदेश से ऋण लेने के कारण विदेशी पूंजी के अंतर्प्रवाह और कंपनियों के शेयरों में विदेशी निवेश में अंतर करना लाभदायी है। पूर्वोक्त मामले में ऋण का पुनर्भुगतान और उस पर ब्याज की अदायगी हर हालत में करनी होती है भले ही परियोजना मुनाफा दे या न दे। इस अर्थ में वह 'ऋण-सृजक' होता है। वास्तविक शेयर निवेश के अवरोक्त मामले में लाभांश का भुगतान मुनाफे से होता है, और अगर

परियोजना मुनाफा देने में विफल रहती है तो उस पर किसी प्रकार का भुगतान करने की जिम्मेदारी नहीं रहती। इस अर्थ में वह निवेश 'गैर ऋण-सर्जक' है। जब विदेशी पूंजी का अंतर्प्रवाह ऋण-सृजक होता है और हर हाल में उसका पुनर्भुगतान और उस पर ब्याज की अदायगी लाजिमी होती है, तब सरकार के बारे में यह तर्क बेमानी हो जाता है कि उसके पास 'पैसे नहीं हैं'। यह तर्क विवेकपूर्ण नहीं है कि घरेलू सार्वजनिक ऋण की अपेक्षा विदेशियों से लिए गए ऋण का पुनर्भुगतान और उस पर ब्याज की अदायगी कहीं कम कष्टकर होती है; वस्तुतः वह बहुधा अधिक असह्य होती है क्योंकि ऋण का पुनर्भुगतान और ब्याज की अदायगी विदेशी विनिमय में करनी होती है।

भूमंडलीय एकीकरण के नाम पर विदेशी निवेश को आंखें मूंदकर स्वीकार करना बाजार उन्मुख सुधारों की आधारशिला बन गया है। इससे शायद ही आश्चर्य होगा कि अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक जैसे संस्थान और धनी औद्योगिक देश ऐसी नीतियों को प्रोत्साहित करते हैं क्योंकि वे उनके लिए फायदेमंद हैं। फिर भी यह प्रश्न उठता है हमारे नीति निर्माता एक जनतांत्रिक देश में इस मुद्दे पर अधिक विवेकपूर्ण रवैया अपनाने में क्यों विफल हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें भूमंडलीकरण के अपेक्षाकृत अधिक प्रछन्न आलेख को देखना होगा जिसे शायद ही सार्वजनिक तौर पर उजागर किया जाता है। तार्किक तौर पर, भूमंडलीकरण का वर्तमान दौर 1970 के दशक के मध्य के आसपास समृद्ध औद्योगिक राष्ट्रों में प्रमुख पूंजी बाजारों के विनियमन के साथ आरंभ हुआ। परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय में निजी व्यापार की मात्रा सारे विश्व में तेज इलेक्ट्रोनिक हस्तांतरण की सुविधा से प्रतिदिन 12 खरब डालर के चौंकाने वाले स्तर पर पहुंच गई है। निर्यात और आयात के वित्त पोषण के लिए अधिक से अधिक इसका दो प्रतिशत से भी कम चाहिए और उससे भी कहीं कम प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के वर्तमान स्तर के वित्त पोषण के लिए आवश्यक है। विदेशी विनिमय के व्यापार की दैनिक राशि आसानी से किसी भी केंद्रीय बैंक की विदेशी विनिमय की आरक्षित निधि से अधिक हो सकती है। संसार के सब केंद्रीय

बैंकों की विदेशी विनिमय की आरक्षित निधि को जोड़ें तो भी कुल योग विदेशी विनिमय के दो दिनों की व्यापार राशि से कम होगा। सिद्धांततया संसार के सभी केंद्रीय बैंकों की कुल आरक्षित विदेशी विनिमय निधि का सफाया कुछ ही दिनों के शत्रुतापूर्ण निजी व्यापार के द्वारा हो सकता है। निजी वित्तीय पूंजी की यह प्रधानता भूमंडलीकरण के आधुनिक दौर का एकमात्र चरित्र निर्धारक तत्त्व है। आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि कोई भी सरकार अपने को असुरक्षित महसूस करती है।

भूमंडलीय पूंजी बाजार की इस पृष्ठभूमि में विशेष रूप से भारतीय स्थिति पर विचार करें। अंतर्राष्ट्रीय मानदंड की दृष्टि से हमारा पूंजी बाजार छोटा और हमारी मुद्रा दुर्बल है। इसलिए विदेशी विनिमय बाजार में थोड़े से महत्वपूर्ण खिलाड़ियों की सट्टेबाजी से भारतीय रुपए और दलाल स्ट्रीट में ऐसी गिरावट आ सकती है जो नियंत्रण से बाहर हो। भारतीय पूंजी बाजार अब भी पूर्णतया आजाद नहीं है। फिर भी सरकार व्यापारियों, विशेष रूप से पूंजी बाजारों में विदेशी व्यापारियों की भावनाओं के प्रति चौकन्ना रहती है। उदाहरण के लिए, यदि कुछ विदेशी संस्थागत निवेशक अमैत्रीपूर्ण रुख अपनाकर भारतीय बाजार से अपने वित्तीय निवेश का एक हिस्सा ले जाते हैं तो इससे पूंजी बाजार में नाटकीय गिरावट आएगी और रुपए का विनिमय मूल्य गिरेगा। इससे भी बुरी बात यह हो सकती है कि साधारण निवेशकों के बीच घबराहट पैदा हो और उनके भेड़ियाधंसान के कारण पूर्णरूपेण वित्तीय संकट पैदा हो जाए। हमारी सरकार समेत सब सरकारें इसीलिए वित्तीय बाजारों में प्रतिकूल संकेत भेजने को लेकर सतर्क हो गई हैं।

इस कहानी का दूसरा पक्ष भी कम सही नहीं है। कोई भी सरकार उपयुक्त संकेत के जरिए वित्तीय बाजार और पूंजी बाजार में बड़े निजी खिलाड़ियों को प्रसन्न रखकर यह स्वांग भर सकती है कि वह आर्थिक दृष्टि से बहुत अच्छा कर रही है। इस प्रक्रिया में अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक निर्णायक मगर अप्रत्यक्ष, भूमिका अदा करते हैं। यदि वे किसी विकासशील देश की सरकार की आर्थिक नीतियों को पसंद करते हैं तो बाजार के निजी खिलाड़ी इसे अनुकूल संकेत के तौर पर लेते हैं। जब अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष

या विश्व बैंक कहता है कि आर्थिक उदारीकरण अच्छा है, या विदेशी पूंजी और निवेश को आकर्षित करना बढ़िया है किंतु भारी सरकारी व्यय और राजकोषीय घाटे सभी परिस्थितियों में बुरे हैं तब सरकारें इस सलाह को स्वीकार करने का आसान विकल्प अपनाती हैं। वित्तीय बाजार के अनुकूल ऐसी नीतियों को अपनाकर किसी न किसी प्रकार ऊपर चढ़ते पूंजी बाजार को बनाए रखने को आर्थिक सुप्रबंधन कहा जाता है भले ही वास्तविक अर्थव्यवस्था के विकास के लिए बहुधा हानिप्रद हों। मीडिया और परंपरावादी विद्वान अपने निजीकारणों से सुर में सुर मिलाकर यह प्रभाव पैदा करना चाहते हैं कि इसका कोई विकल्प नहीं है। पूंजी बाजार में 'अच्छा महसूस' करने का कारक और अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों और साख-निर्धारक एजेंसियों से अनुशंसा अर्थव्यवस्था, और जनसंख्या, यहां तक कि गरीब तबकों की सुखद स्थिति का पर्याय मानी जाती है! यह भूमंडलीकरण के वर्तमान युग में 'विवेकपूर्ण' आर्थिक प्रबंधन का प्रच्छन्न आलेख है जिसे अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष एवं विश्व बैंक ने प्रस्तुत किया है। कभी-कभी हम पाते हैं कि हमारे निर्वाचित प्रतिनिधि आलेख में निर्धारित भूमिका को निभाने के लिए तैयार हैं।

हमें पूंजी बाजार के आचरण को ही याद करने की आवश्यकता है। उसने उन्मत्त बुलबुले जैसे उठकर (जिसका परिणाम अंततोगत्वा हर्षद मेंहता प्रसंग में हुआ) 1992 के आर्थिक सुधारों को अपनी स्वीकृति व्यक्त की। मई 2004 में पूंजी बाजार में चुनाव के बाद भारी गिरावट आई, मानो वह सुधार को लेकर अपनी बेचैनी दर्ज कराना चाहती हो। यह स्थिति तब तक जारी रही जब तक नई गठबंधन सरकार की आर्थिक नीतियां स्पष्ट नहीं हो गईं। पूर्वोक्त प्रसंग की अपेक्षा अवरोक्त प्रसंग में मुख्य रूप से सांस्थानिक निवेशकों द्वारा स्टाक एक्सचेंज में पैसे डालना या उससे बाहर ले जाना ही सारे खेल का आधार था।

फिर भी भारतीय संदर्भ में आर्थिक प्रबंधन का यह माडल और यह शैली अधिक से अधिक सिर्फ अस्थाई तौर पर ही सफल हो सकती है। यह अप्रत्याशित घटना नहीं थी कि आलेख के अनुरूप भूमिका अदा करने

वाले आर्थिक नीति निर्माता चुनावों में जनता द्वारा ठुकरा दिए गए। कांग्रेस के नेतृत्व वाला गठबंधन, जिसे अर्थव्यवस्था में 'सुधार करने' का गर्व था, 2000 ई. में आम चुनाव हार गया; भाजपानीत गठबंधन, जिसे पूंजी बाजार के चश्मे से भारत चमकता हुआ दिखा था, 2004 ई. में कोई बढ़िया प्रदर्शन नहीं कर पाया। आर्थिक नीतियों के उन समर्थकों को जो आम जनता को दरकिनार कर यह दिखलाने लगते हैं कि पूंजी बाजार के भले में ही राष्ट्र का भला है, बेहतर परिणाम की आशा नहीं करनी चाहिए।

किंतु यदि हम साधारण, गरीब भारतीय जन के प्रति दुराग्रह से ग्रस्त इन नियमों के अनुसार भूमंडलीय खेल नहीं खेलना चाहते तो हमें सबके प्रतिष्ठापूर्ण विकास के अपने लक्ष्य तक यथासंभव कम समय में पहुंचने के लिए एक वैकल्पिक मार्गदर्शक मानचित्र तैयार करने की स्थिति में होना चाहिए। यह वैकल्पिक माडल यह मानकर चलता है कि आंखें मूंद भूमंडलीकरण को स्वीकार कर आंतरिक या घरेलू बाजार की अपेक्षा विदेशी बाजार की अहमियत बढ़ाना भारत के विकास की वर्तमान अवस्था में हमारे लिए फायदेमंद नहीं है। विकास की प्रक्रिया में गरीबों की भागीदारी के उद्देश्य के अनुरूप हमारी स्थिति के अनुकूलतम मात्रा में खुलापन लाने की हमें कोशिश करनी चाहिए। यह इस मान्यता को लेकर आगे बढ़ता है कि यद्यपि विश्व बाजार का आकार हमारी राष्ट्रीय सरकार के नियंत्रण के परे है फिर भी हमारे घरेलू बाजार का आकार निश्चित नहीं है। घरेलू बाजार का आकार निर्णायक रूप से सरकारी और निजी व्यय पर निर्भर होता है। और, इस विचार के विपरीत कि आर्थिक भूमिका न्यूनतम होनी चाहिए, हमें एक ऐसी स्कीम तैयार करनी चाहिए कि लोग सरकार की सहायता से फलदायी आर्थिक कार्यों में लग सकें।

विदेशी बाजार की अपेक्षा घरेलू बाजार पर अधिक जोर के दो परिणाम विशेष रूप से आम जनता के अनुकूल होंगे। यह आर्थिक नीतियों को मजदूरी, रोजगार और सामाजिक एवं आर्थिक पूंजी निर्माण के मत्थे, जिससे आम जनता के कल्याण को धक्का पहुंचता है, लागत-कटौती की सनक से मुक्त करेगा। यह विकास के वास्तविक मुद्दों पर ध्यान केंद्रित करने में हमें मदद

देगा। इनमें सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक दृष्टि से उत्पादक रोजगार का तेजी से विस्तार है। एक पोषणीय पूर्ण रोजगार वाले समाज की ओर तेजी से प्रगति ही सहभागितायुक्त विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग है। इसका एक आनुषंगिक परिणाम गरीबी का उन्मूलन और निरंतर गरीब उन्मुखी संवृद्धि होगी जहां हर किसी को सम्मानपूर्वक मनुष्य के रूप में रहने का अधिकार होगा।

यह बतलाया जा चुका है कि हाल के वर्षों के दौरान हमारे सकल घरेलू उत्पाद की उच्च संवृद्धि पर्याप्त रोजगार पैदा करने में विफल रही है। इस लगभग रोजगारविहीन संवृद्धि का कारण सीधा है। उत्पादन या सकल घरेलू उत्पाद की संवृद्धि श्रम उत्पादकता यानी प्रति मजदूर उत्पादन और रोजगार की संवृद्धि से प्राप्त होती है। जब श्रम उत्पादकता में उत्पादन की वृद्धि के लगभग बराबर बढ़ोत्तरी होती है तब रोजगार की संवृद्धि करीब-करीब शून्य हो जाती है। रोजगार संवृद्धि को बढ़ाने के लिए दो व्यापक रणनीतियों की आवश्यकता होती है। पहली, हमें उत्पादन में वृद्धि घरेलू बाजार के आकार को बढ़ाकर करनी चाहिए। और दूसरी, हमें उत्पादकता की संवृद्धि को अलग दृष्टिकोण से देखना चाहिए। भूमंडलीकरण और विदेशी बाजार पर जोर हमें श्रम उत्पादकता को केवल लागत-कटौती के उपाय के रूप में देखने के लिए प्रवृत्त करता है। निगमों के मुख्य कार्यकारी अधिकारी यह कहते कभी नहीं थकते कि वे अपने निगमों को "दुबला और बिना चर्बी के क्षुधित" बनाना चाहते हैं। इस उद्देश्य को प्राप्त करने का उनका सामान्य तरीका श्रमशक्ति का 'आकार घटाना' होता है। उदाहरण के लिए, यदि कर्मचारियों की आधी संख्या ही पूरी संख्या का काम कर दे और साथ ही मजदूरी दुगुनी न हो तो श्रम लागत घटेगी और इस प्रकार उत्पादन लागत में कमी आएगी। लागत में यह कमी बाजार में अपनी हिस्सेदारी तथा मुनाफे का अनुपात बढ़ाने की दृष्टि से निगमों के लिए महत्वपूर्ण होती है। यही तर्क तब भी लागू होता है जब आर्थिक नीति निर्माता भूमंडलीय बाजार में अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए केवल विदेशी बाजार पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं।

हम जैसे ही घरेलू बाजार के महत्व को स्वीकार कर लेते हैं वेसे ही श्रम उत्पादकता बढ़ाने का निगम क्षेत्र का प्रबंधन तर्क लागू नहीं होता। प्रबंधन के निगम के विचार की संरचना में निहित हेत्वाभास को आसानी से देख सकते हैं। मान लें कि अर्थयवस्था में कार्यरत सारे निगम अपनी श्रमशक्ति आधी कर देते हैं, और कुल रोजगार घटकर आधा हो जाता है। यदि मजदूरी ज्यों की त्यों रहती है तो श्रम लागत भी आधी हो जाएगी क्योंकि हर व्यक्ति पहले की तुलना में दुगुना उत्पादन करेगा परंतु उसकी मजदूरी पहले जैसी ही होगी। रोजगार आधा हो जाने से मजदूरी के ऊपर कुल खर्च भी आधा हो जाएगा। परिणामस्वरूप, घरेलू क्रयशक्ति और घरेलू बाजार भी सिकुड़ेगा बशर्ते उपभोग व्यय में कमी को पूरा करने के लिए निवेश एवं निर्यात न बढ़े। निगमों के सामने समस्या आएगी कि बाजार के अभाव में अपने उत्पादों को कहां बेचें। इसलिए यद्यपि प्रति इकाई मुनाफे का अनुपात श्रम लागत घटने से अपेक्षाकृत ऊंचा है फिर भी वे अपने उत्पादन का एक बड़ा भाग बेचने में असमर्थ होंगे और पहले की अपेक्षा कम कुल मुनाफा कमा पाएंगे।

श्रमशक्ति का आकार घटना इसका एक उदाहरण है कि किस प्रकार निगम क्षेत्र के प्रबंधन का व्यष्टिगत आर्थिक तर्क संपूर्ण अर्थव्यवस्था के प्रबंधन के समष्टिगत आर्थिक तर्क से भिन्न होता है। यह सिर्फ पैमाने में परिवर्तन का उदाहरण नहीं है। इस "संरचना के हेत्वाभास" की संभावना के कारण सारभूत आर्थिक तर्क भिन्न हो जाता है। यह हमें मात्र यही चेतावनी देता है कि अर्थव्यवस्था का एक हिस्सा जैसे निगम संपूर्ण अर्थव्यवस्था की जगह नहीं ले सकता। निःसंदेह ऐसे अनेक उदाहरण हैं। किसी एक फर्म विशेष द्वारा मजदूरी की दर में कमी उसके लिए फायदेमंद हो सकती है मगर जब सारी फर्में मजदूरी-कटौती का रास्ता अपनाएं तो घरेलू बाजार में कुल मांग घटेगी और सभी फर्मों के मुनाफे के लिए उसके दुष्परिणाम होंगे। इसी प्रकार अधिक विज्ञापन से कोई एक फर्म बाजार में अपनी हिस्सेदारी बढ़ा सकती है बशर्ते अन्य विज्ञापन न करें। आर्थिक नीतियों के निर्धारण में यह जरूरी है कि निगम या परिवार के प्रबंधन को अर्थव्यवस्था

का प्रबंधन समझ लेने की भ्रांति न पालें। यह भ्रांति यह देख पाने में विफलता का परिणाम होती है कि प्रमुख समष्टिगत आर्थिक चरों जैसे श्रम उत्पादकता या मजदूरी की अर्थव्यवस्था में अवश्यंभावी रूप से दोतरफा भूमिका होती है। वे लागत और मांग, दोनों, को प्रभावित करते हैं।

अब यह महसूस किया जाएगा कि जिस हद तक हम मांग पक्ष के संदर्भ में लागत पर जोर देते हैं उस हद तक वह हमारे द्वारा बाहरी और आंतरिक बाजार के सापेक्ष महत्व पर निर्भर होता है। हम जैसे ही आंतरिक बाजार के प्रबंधन पर ध्यान केंद्रित करते हैं वैसे ही मुद्दों का एक भिन्न समूह नीति के केंद्र में आ जाता है। अपनी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिद्वंद्विता क्षमता को बेहतर बनाने के लिए लागतों में कटौती तथा मजदूरी को प्रतिबंधित करने की सनक के बदले हमारे सामने यह समस्या आती है कि गरीबों और आर्थिक रूप से हाशिए पर ठेले गए लोगों को शामिल कर किस प्रकार एक विस्तारशील बाजार का सृजन किया जाय। विकास के वैकल्पिक माडल से इस केंद्रीय प्रश्न का उत्तर अपेक्षित होगा।

भूमंडलीकरण ने इस वैकल्पिक माडल को पीछे की ओर धकेल दिया है। वर्तमान समय में भारत की हमारी तथाकथित वामपंथी राजनीति की दिग्भ्रमित स्थिति में इसके लिए पर्याप्त समर्थन का अभाव है। दूसरी ओर, चीनी अथवा वियतनामी शैली के समाजवाद ने आर्थिक समानता के मूलभूत तत्त्व को केंद्रीय नियोजन के अपेक्षाकृत कम आवश्यक तत्त्व के साथ बाहर फेंक दिया है। जब अफसरशाही वाला केंद्रीय नियोजन विफल हो गया तब उन्होंने अपना ध्यान गरीबों के लिए घरेलू बाजार के विकास से अलग हटा लिया। परिणामस्वरूप असमानता बढ़ती जा रही है और इन देशों में तेज विकास के बावजूद जनसंख्या का एक महत्वपूर्ण भाग हाशिए पर धकेला जा रहा है। इसी कारण राजनीतिक परिदृश्य को स्थिर बनाए रखने के लिए वे भागीदारी वाले जनतंत्र के बदले उत्तरोत्तर सत्तारूढ़ दल की शक्ति पर निर्भर होते जा रहे हैं जिससे बाजारनीत संवृद्धि को आगे बढ़ाया जा सके। हमें स्पष्ट और अलग तरह से सोचने के लिए आत्मविश्वास की आवश्यकता है।

अपनी गरीब, मगर जनतांत्रिक, देश की विशेष परिस्थिति में हमें इन मार्गों को अपनी समस्याओं के लिए अप्रासंगिक बताकर ठुकरा देना चाहिए। भारत की अधिकांश गरीब जनता निःसंदेह विकास के एक वैकल्पिक माडल का समर्थन करेगी जो भूमंडलीकरण, विदेशी बाजार, और "आर्थिक कार्यकुशलता" की ऐसी धारणा को लेकर न चले जिसका मतलब मुख्यतया गरीबों के मत्थे लागतों में कटौती हो। वैकल्पिक माडल का सारतत्त्व, जो सबकी भागीदारी और सबके लिए रोजगार के जरिए संवृद्धि के लिए घरेलू बाजार पर अधिक जोर देता हो, बहुसंख्यक भारतीयों का समर्थन पाएगा। अपने जीवन के दैनिक अनुभव के आधार पर वे देखेंगे कि इसी में सम्मानपूर्वक मनुष्यों की तरह रहने की एकमात्र संभावना है। अंततः मीडिया के सारे अभियानों के बावजूद उन्होंने स्पष्ट रूप से सुधारों और उदारीकरण की सारी बात तथा 'चमकते भारत' के चित्रों को एक के बाद दूसरे चुनाव में ठुकरा दिया क्योंकि उन्होंने पाया कि इसका उनके दैनिक जीवन से कोई लेना-देना नहीं है। अब जबकि 'चमकते भारत' के माडल को चुनावों में बार-बार ठुकरा दिया गया है, हममें व्यावहारिक तौर पर विकास के वैकल्पिक माडल को अपनाने का साहस होना चाहिए।

इस बात को इंगित किया जा चुका है कि घरेलू बाजार के आकार को रेखांकित करने का एक महत्वपूर्ण पहलू इस सनक का प्रतिवाद करना है कि मजदूरी पर रोक तथा श्रमशक्ति में कमी जैसे उपायों द्वारा ही लागत कम की जा सकती है। यह विचार कुशलता की भ्रामक संकुचित समझ पर आधारित है जो हमारे विकास पर प्रतिकूल असर डालती है। भले ही यह किसी निगम विशेष के लिए व्यक्तिगत आर्थिक दृष्टि से कुशल हो मगर समष्टिगत आर्थिक दृष्टि से अर्थव्यवस्था के लिए अकुशल है क्योंकि इससे निम्नतर क्रयशक्ति के परिणामस्वरूप आंतरिक बाजार का आकार घटता है। इस आर्थिक तर्क का सामना बहुधा किए जाने वाले इस दावे से नहीं हो सकता कि भारत के सिलसिले में घरेलू क्रयशक्ति की कमी को निर्यात अधिशेष अथवा उच्चतर निजी निवेश में अनुकूल वृद्धि द्वारा पूरा किया जा सकता है। वस्तुतः चूंकि भारत की राष्ट्रीय आय में उपभोग

की तुलना में निवेश एवं निर्यात का अपेक्षाकृत कम परिमाणात्मक महत्व, और सांख्यिकीय वजन होता है इसलिए सरल अंकगणित गणना से स्पष्ट है कि यह बिल्कुल असंभव है। इस तर्क से काम करने के लिए हमें न सिर्फ निर्यात में असंभव वृद्धि की आवश्यकता होगी बल्कि निर्यात अधिशेष की भी जरूरत होगी। निर्यात अधिशेष का अर्थ है कि आयात की अपेक्षा निर्यात की अधिकता। इस तरह अनेक वर्षों तक निर्यात में आयात की तुलना में काफी तेज वृद्धि लानी होगी। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, यह तर्क इस तकलीफदेह तथ्य को दरकिनार कर देता है कि हर समय सारे राष्ट्र निर्यात अधिशेष प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धात्मक लागत कटौती के 'शून्य-योग खेल' में विजयी नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त भारत के आकार वाले एक बड़े देश में निर्यात अधिशेष की इतनी बड़ी मात्रा के लिए अभियान के हमारे दक्षिण एशियाई पड़ोसियों के लिए गंभीर परिणाम होंगे। यहां यह प्रश्न अवश्य पूछना चाहिए कि इन सबके बावजूद हम अनेक कठिनाइयों से युक्त विदेशी बाजार पर जनविरोधी लागत कटौती की नीतियों के बावजूद अधिकाधिक निर्भरता का बेढंगा रास्ता क्यों अपनाना चाहते हैं जबकि घरेलू बाजार के अधिकाधिक विस्तार पर निर्भर रहने का बेहतर विकल्प उपलब्ध है।

अब हम इस स्थिति में हैं कि भारत में प्रतिष्ठापूर्ण विकास के मुख्य आयामों की पहचान कर सकें। ये आयाम नीतिगत ढांचे, और हमारी नीतियों के निर्धारण के आधार प्रदान करते हैं।

पहली बात यह है कि विदेशी बाजार की तुलना में घरेलू बाजार के आकार पर ही अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। इसका अर्थ है कि 'विकल्पहीनता' की लक्षण-समष्टि (सिंड्रोम) को नकारना होगा। विकल्प में विश्व अर्थव्यवस्था के प्रति कितना अनुकूलतम खुलापन हो सकता है, उसका हिसाब लगाना होगा जिससे आंतरिक और बाहरी बाजार को ध्यान में रखकर देश की आवश्यकताओं को संतुलित किया जा सके।

दूसरी बात, आंतरिक और बाहरी बाजार के सापेक्ष महत्व को मूलतः पूर्ण रोजगार युक्त समाज की ओर तेजी से बढ़ने के उद्देश्य से लेना चाहिए।

रोजगार का जहां तक प्रश्न है उसका अर्थ है लोगों को आय प्रदान करना जिससे वे अपनी क्रयशक्ति और घरेलू बाजार के आकार को बढ़ा सकें। दूसरी तरफ इसका मतलब उत्पादन में उनका संलग्न होना भी है। सहभागिता वाले जनतंत्र का यह सारभूत आर्थिक तत्त्व है कि हर व्यक्ति को शालीन जीवन-यापन के लिए नियमित आय का अधिकार और उसकी सामाजिक उत्पादन में योगदान की जिम्मेदारी हो।

तीसरी बात, अपने आर्थिक सारतत्त्व के रूप में सहभागिता वाले जनतंत्र को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'कुशलता' का वह विचार कितना संकुचित है जो व्यवसाय या सरकार की लागत में कटौती से ही संबद्ध है जिस कारण वह अनुत्पादक बन जाता है। जैसा कि तर्क दिया जा चुका है, लागत में कटौती की सनक मुख्यतया विदेशी बाजार में हिस्सेदारी बढ़ाने तथा पूंजी बाजार को खुश रखने की कोशिश के फलस्वरूप पैदा होती है। खास तौर पर इसका परिणाम गरीब विरोधी नीतियों के रूप में प्रकट होता है जो श्रमबाजार को लचीलापन, आर्थिक एवं सामाजिक विकास पर कम सरकारी व्यय और यहां तक कि उच्च उत्पादकता के लिए श्रम की कटौती के नाम पर अपनायी जाती हैं। कहीं अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि ये नीतियां घरेलू बाजार के आधार को घटाने की कोशिश करती हैं जिससे उच्च रोजगार और सहभागितायुक्त विकास असंभव हो जाता है। और, ठीक यही उदारीकरण और आर्थिक सुधारों के नाम पर हो रहा है।

अंततः भूमंडलीकरण और उदारीकरण के युग में सकल घरेलू उत्पाद की उच्च संवृद्धि लागत में कटौती के ऊपर ध्यान केंद्रित कर लाई गई श्रम उत्पादकता की उच्च वृद्धि दर के जरिए ही प्राप्त की गई है। चूंकि अधिकांश संवृद्धि प्रति व्यक्ति अपेक्षाकृत उच्च उत्पादन का परिणाम है, इसलिए रोजगार प्राप्त कामगारों की संख्या में कोई खास वृद्धि नहीं हुई है। फलस्वरूप हम लोग लगभग रोजगारविहीन संवृद्धि महसूस कर रहे हैं। रोजगार की धीमी वृद्धि से बाहर निकलने के लिए हमें उस अत्यंत प्रत्यक्ष बात को स्वीकार करना होगा जिसे हमने नजर अंदाज कर दिया है। वह है : *उच्चतर उत्पादकता केवल इसलिए अभीष्ट नहीं है कि वह उत्पादन लागत में कटौती करती है बल्कि इसलिए भी वांछनीय है कि वह सबके बेहतर जीवन-यापन के लिए हमें अधिक वस्तुएं और सेवाएं प्रदान करेगी।* इस दृष्टिकोण से भारत के विशाल असंगठित क्षेत्र में न्यूनतम मजदूरी न केवल लागत को बढ़ाती है बल्कि घरेलू मांग के विस्तार का एक प्रधान स्रोत भी होती है। सुंदरता की तरह ही लागत देखने वाले की दृष्टि पर निर्भर होती है। मजदूरी एक लागत है जिसे मालिक को उठाना पड़ता है मगर वह कामगार के लिए आय होती है। इसी प्रकार मुनाफा मालिक के लिए आय होता है परंतु वह एक ऐसा बोझ है जिसे मजदूर महसूस करता है कि वह उसे वहन करने के लिए मजबूर है। 'लागत' कटौती पर संकेंद्रित संकुचित नजरिए वाली नीतियां यह देख पाने में विफल होती हैं कि लागत प्रतियोगी आर्थिक हितों के एक विशेष सामाजिक संदर्भ में परिभाषित एक अवधारणा है।

V

एक अलग तरह के विकास हेतु

सहभागितायुक्त जनतंत्र के आर्थिक अभ्यंतर में पारस्परिकता का भाव होता है। एक न्यूनतम आय के अधिकार से युक्त सब नागरिकों को सामाजिक उपभोग में उचित हिस्सा मिलना चाहिए। साथ ही, उनके ऊपर सामाजिक उत्पादन में योगदान करने की जिम्मेदारी होती है। सहभागितायुक्त जनतंत्र का लक्ष्य गरीबों को उत्पादक एवं उपभोक्ता, दोनों के रूप में आर्थिक जीवन में पूर्ण भागीदारी देना होता है। हमारे राजनीतिक जनतंत्र और उसकी घोर आर्थिक विकृतियों के बीच की खाई को पाटने का यही एकमात्र रास्ता है। एक पूर्ण रोजगार युक्त समाज की ओर तेजी से बढ़कर ऐसा करना संभव है। बेशक, समुचित अल्पावधि में अपने इर्द-गिर्द उपस्थित निर्धनता और तिरस्कार के उन्मूलन का यही एकमात्र रास्ता है। प्रतिष्ठापूर्ण विकास वह प्रक्रिया बन जाएगा जिसके जरिए राजनीतिक एवं आर्थिक जनतंत्र को सबके लिए उच्चतर उत्पादक रोजगार के माध्यम से परस्पर नजदीक लाया जाएगा। किंतु इस उद्देश्य से रोजगार की समुचित परिभाषा की जानी चाहिए। उसे ऐसी प्रक्रिया की संचालक शक्ति बनना चाहिए जिसे निर्धनता और बेरोजगारी के गर्त में वापस गए बिना जारी रखा जा सके।

व्यक्ति विशेष को रोजगार आय और जीविका प्रदान करता है, और वह इस आय को विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च करता है। रोजगार और उपभोग से जुड़ी मांग के बीच यही संबंध होता है। यदि उसका व्यय

घरेलू वस्तुओं और सेवाओं पर होता है तो घरेलू बाजार का आकार बढ़ता है। अगर व्यय विदेशी वस्तुओं पर हो तो निर्यात के कारण घरेलू बाजार का आकार घटेगा। विदेशी लोगों द्वारा हमारी घरेलू वस्तुओं पर व्यय यानी हमारा निर्यात हमारे घरेलू बाजार का आकार बढ़ा देगा मगर आयात उसे घटाएगा। अतः निर्यात अधिशेष या व्यापार संतुलन, अर्थात् आयात की तुलना में निर्यात की अधिकता, घरेलू बाजार के आकार में योगदान की दृष्टि से प्रासंगिक परिमाण है।

स्वतंत्रता के समय से ही भारत के विदेश व्यापार में ऋणात्मक संतुलन रहा है। वर्ष 2004 में उसका परिमाण बासठ हजार करोड़ रुपए यानी हमारे सकल घरेलू उत्पाद का दो प्रतिशत से अधिक रहा है। हमारे घरेलू बाजार का आकार व्यापार में घाटे के अनुपात में घट जाता है। फिर भी इसका असर विदेश में कमाकर भारतीय फर्मों तथा मजदूरों द्वारा भेजे गए पैसों के कारण उस हद तक कम हो जाता है जिस हद तक वे घरेलू उपभोक्ताओं की क्रयशक्ति को बढ़ाते हैं।

कुल मांग, जिसमें उपभोग पर व्यय, निवेश और व्यापार का घाटा शामिल होते हैं, घरेलू बाजार के आकार को निर्धारित करती है। मगर मांग कहानी का केवल एक पक्ष है। जहां तक समाज का प्रश्न है रोजगार का मतलब उत्पादन भी होना चाहिए, और इस प्रकार वह कहानी का पूर्ति पक्ष प्रस्तुत करता है। जब पर्याप्त मात्रा में वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन होता है तब कुल मांग कुल पूर्ति के बराबर होती है। आए दिन इनमें मेल नहीं बैठता क्योंकि मांग काफी कम होने के कारण उत्पादन क्षमताएं पूरी तरह इस्तेमाल नहीं हो पातीं, या अर्थव्यवस्था एक या दूसरे अर्थ में संसाधनों के पूर्ण उपयोग के आधार पर अपनी क्षमता के अनुसार पूर्ति कर रही होती है, और मांग को पूरा नहीं कर पाती। अर्थशास्त्री इन स्थितियों का विश्लेषण असंतुलन के रूप में करते हैं। वे इनके परिणामों को लेकर परस्पर बहस करते हैं। अर्थशास्त्रियों के बीच अनेक नीतिगत मतभेद इसी कारण पैदा होते हैं।

जो भी हो, रोजगार को ऐसी अवधारणा के रूप में देखा जाना चाहिए

कि जो मांग पक्ष में आय और पूर्ति पक्ष में उत्पादन के साथ जुड़ी होती है। फर्म के व्यष्टिगत आर्थिक स्तर पर वह मजदूर के लिए मजदूरी की आय, और मालिक के लिए श्रम लागत के रूप में प्रकट होती है। मालिक को अपना माल ऐसी कीमत पर बेचना चाहिए जिससे लागतों को पूरा करने के साथ ही मुनाफा मिलना चाहिए। यही मुनाफा मालिक की आय है। अब स्थिति पलट गई है। मजदूर मुनाफे को उस लागत के रूप में ले सकता है जिसे काम पर लगने के लिए उठाना पड़ेगा, यह वैसे ही है जैसे मालिक मजदूरी को मजदूर के काम पर लगाने की लागत के रूप में लेता है! इन परस्पर विरोधी विचारों को श्रम उत्पादकता की अवधारणा में समंजित किया जाता है क्योंकि मुनाफा और मजदूरी को इसी समान स्रोत से लेना होता है। कहना न होगा कि श्रम उत्पादकता से हमारा तात्पर्य एक औसत मजदूर के उत्पादन से होता है। एक औसत मजदूर कितना उत्पन्न करता है, उसे यानी श्रम उत्पादकता को, इस प्रकार पूर्ति पक्ष की ओर से मजदूरी और मुनाफा, दोनों, के स्रोत के रूप में देखा जा सकता है। मगर इससे एक गंभीर समस्या उत्पन्न होती है।

यदि औसत मजदूर समान मजदूरी पर अपेक्षाकृत अधिक उत्पन्न करता है (जैसा कि पिछले अध्याय में 'श्रमशक्ति में कटौती के सिलसिले में चर्चा कर चुके हैं), तो इससे एक इकाई उत्पादन की श्रम-लागत घट जाएगी। अतः समान मजदूरी पर उच्चतर श्रम-उत्पादकता मालिक के मुनाफे में वृद्धि लाती प्रतीत होगी। किंतु यह वास्तविक नहीं, बल्कि संभाव्य मुनाफा है। संभाव्य मुनाफे को वास्तविक मौद्रिक मुनाफे के रूप में हासिल करने के लिए जरूरी है कि उच्चतर श्रम उत्पादकता के फलस्वरूप प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन को बेचने में समर्थ हो। उदाहरण के तौर पर यदि कोई औसत मजदूर 10 बुशेल गेहूं पैदा करता है और उसे मजदूरी के रूप में छः बुशेल गेहूं प्राप्त होता है तो चार बुशेल गेहूं प्रति मजदूर मजदूरी को देखते हुए अधिशेष होगा। बुशेल के रूप में यह प्रति मजदूर प्राप्त गेहूं संभाव्य मुनाफा होगा। यदि श्रम उत्पादकता अपेक्षाकृत ऊंची हो यानी 15 बुशेल हो तो मजदूरी की समान दर पर संभाव्य मुनाफा प्रति मजदूर 9 (15-6) बुशेल

होगा। प्रति मजदूर संभाव्य मुनाफे के रूप में बुशेल के अपेक्षाकृत ऊंचे अधिशेष को बेचने के लिए कहीं अधिक बड़े बाजार की आवश्यकता होगी। ऐसा होने पर ही इसे मौद्रिक मुनाफे के रूप में प्राप्त किया जा सकेगा। अन्यथा, उच्चतर श्रम उत्पादक और कुशलता के बावजूद गेहूं के उत्पादन का एक हिसा अनबिका रह जाएगा। इस प्रकार मुद्रा के रूप में उच्चतर होने के बदले मुनाफा निम्नतर होगा। परिणामस्वरूप अगले साल गेहूं उत्पादन के साथ ही रोजगार में कटौती हो सकती है। उत्पादन में कुशलता बढ़ने के बावजूद यही अपर्याप्त मांग की समस्या है। जब विदेशी मांग में पर्याप्त रूप से इतनी वृद्धि नहीं होती कि वह उच्चतर श्रम उत्पादकता के कारण प्राप्त उच्चतर उत्पादन की खपत कर सके तब उसकी खपत घरेलू बाजार का आकार बढ़ाकर देश के अंदर ही करनी होगी जिससे मुनाफे और रोजगार पर उसके बुरे प्रभाव न हों। इस दृष्टिकोण से घरेलू बाजार का बढ़ता आकार उच्चतर श्रम उत्पादकता से उपजे उच्चतर मौद्रिक मुनाफे के हस्तगतकरण में एक निर्णायक भूमिका अदा कर सके।

श्रम उत्पादकता का आय की दो कोटियों-मुनाफे और मजदूरी—में विभाजन मुख्यतया उजरती श्रम को काम पर लगाने वाले संगठित क्षेत्र पर ही लागू होता है। भारतीय अर्थव्यवस्था में इसका संबंध मात्र लगभग 10 प्रतिशत श्रमशक्ति से होता है जो आमतौर से कार्यशील जनसंख्या का अपेक्षाकृत भाग्यशाली हिस्सा है। सामान्यतया संगठित क्षेत्र की श्रमशक्ति सुनिश्चित श्रम करार के अनुसार काम करती है। ये करार हमेशा तो नहीं मगर बहुधा ओवर टाइम काम के लिए भुगतान के साथ काम के घंटों की संख्या को निर्दिष्ट करते हैं। वे अन्य अधिकारों, जैसे वृद्धावस्था पेंशन, सेवा निवृत्ति से जुड़े फायदों, स्वास्थ्य की सुरक्षा, 'काम पर लगाने और उससे हटाने' के नियमों, और यूनियन बनाने के अधिकार को भी निर्दिष्ट करते हैं। श्रम बाजार में सुधार लाने की बात करने वाले और यूनियनबद्ध मजदूर के अधिकार के लिए लड़ने वाले, दोनों ही, लोग आमतौर से मजदूरों के इस अपेक्षाकृत छोटे प्रतिशत को लेकर चिंतित होते हैं। यही अत्यंत प्रत्यक्ष क्षेत्र है जो निगमित भारत, विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों, मीडिया और यहां

तक कि राजनीतिक दलों का ध्यान आकर्षित करता है। फिर भी यह वह क्षेत्र नहीं है जहां भारत की अधिकतर कार्यशील जनसंख्या बसती है। वह एक ऐसे धुंधले क्षेत्र में रहती है जिसे अस्पष्ट रूप से अर्थव्यवस्था के असंगठित अनौपचारिक क्षेत्र जिसका वर्णन बेढंगी परिभाषाओं के जरिए किया जाता है। भारत की लगभग 90 प्रतिशत कार्यशील जनसंख्या इसी क्षेत्र में अपनी जीविका का उपार्जन करती है और इसके अंतर्गत अधिकांश कृषि, लघु उद्योग, व्यापार, परिवहन और वाणिज्य से जुड़ी छोटी-मोटी सेवाएं आती हैं। उनमें से अधिकतर बिना किसी औपचारिक श्रम करार के काम करती हैं।

कोई भी व्यक्ति रोजगार की दृष्टि से अनौपचारिक क्षेत्र की तीन प्रधान चारित्रिक विशेषताओं को ले सकता है। पहली, अनेक लोग स्वरोजगार में लगे हैं। फलस्वरूप, उनकी उत्पादकता अथवा कुल कमाई को आसानी से मुनाफा और मजदूरी जैसी स्पष्ट कोटियों में अलग-अलग नहीं रखा जा सकता। दूसरी, काम के घंटे बहुधा निश्चित नहीं होते। यह बात न सिर्फ स्वरोजगार में लगे लोगों बल्कि मजदूरी के लिए काम करने वालों के लिए भी सही होती है। नियमतः इस अनौपचारिक अर्थव्यवस्था में वे जितने ही गरीब होते हैं उतने ही अधिक घंटों तक जिंदा रहने के लिए काम करते हैं। तीसरी, बहुधा आय कई स्रोतों से कमाई जाती है जिससे काम के घंटे लंबे हो जाते हैं। संक्षेप में, अनौपचारिक क्षेत्र कार्य दिवस की लंबाई, कमाई के स्रोतों, और वहां काम करने वालों के अधिकारों तथा सुरक्षा की दृष्टि से अनौपचारिक होता है। और, ये अनौपचारिकताएं कुल मिलाकर उस क्षेत्र में मजदूरों के विरुद्ध जाती हैं। इसका इससे बढ़कर आंखें खोलने वाला उदाहरण नहीं हो सकता जितना इस देश में लाखों-लाख बालमजदूरों का उदाहरण है।

आमतौर से, अनौपचारिक क्षेत्र में निर्धनतर मजदूरों की प्रतिघंटा कमाई काफी कम होती है। यही कारण है कि बहुधा विभिन्न प्रकार के काम लंबे समय तक करने के बावजूद उनकी कमाई काफी कम होती है। किसी व्यक्ति को अनेक घंटों तक काम करते हुए देखकर रोजगारयुक्त माना जा सकता

है, मगर वह बेरोजगार है क्योंकि उसकी आय इतनी कम है कि उसे रोजगारयुक्त नहीं माना जा सकता। दूसरा व्यक्ति जो रोजगारयुक्त होकर आय कमा रहा है, कोई जरुरी नहीं है कि वह सामाजिक उत्पादन में योगदान कर रहा हो। संक्षेप में, ऐसी कई विसंगतियां हैं जो आय, उत्पादन और काल-वितरण की दृष्टि से रोजगार को मापने के क्रम में पैदा होती हैं।

उपर्युक्त चर्चा स्पष्ट करती है कि रोजगार, विशेष रूप से अनौपचारिक क्षेत्र के लिए, एक सरल, एकल आयामी अवधारणा नहीं है। प्रथम दृष्टया वह ऐसा लग सकता है, केवल इसलिए कि हम संगठित क्षेत्र की दृष्टि से रोजगार को देखने के आदी हैं। यह नजरिया भारत की लगभग 90 प्रतिशत कार्यशील जनसंख्या को दरकिनार कर देता है। और, चूंकि अत्यंत महत्वपूर्ण अनौपचारिक क्षेत्र में रोजगार को परिभाषित करने का कोई तरीका नहीं है इसलिए भारतीय संदर्भ में रोजगार को, अनेक पहलुओं को अपने में समाहित करने वाली, मिली-जुली अवधारणा होना चाहिए।

रोजगार की एक मिली-जुली अवधारणा मांग पक्ष से अपेक्षा करती है कि हर व्यक्ति को अपने काम से एक न्यूनतम आय प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए जिससे वह सम्मानजनक मानवीय जीवन जीने के लिए आवश्यक न्यूनतम क्रयशक्ति प्राप्त कर सके। पूर्तिपक्ष से उसकी अपेक्षा रहती है कि मजदूर उत्पादन में योगदान करें जिससे आय से मिली कुल क्रयशक्ति का संतुलन उत्पन्न वस्तुओं एवं सेवाओं की उपलब्धता के साथ बैठ सके। साथ ही कार्य दिवस की लंबाई भी तर्कसंगत होनी चाहिए। भारतीय संदर्भ में पूर्ण रोजगार का यह अर्थ होना चाहिए कि सभी भारतीय नागरिकों को इन परिस्थितियों में रोजगार का अवसर मिले।

इस प्रक्रिया में स्वाभाविक पहला कदम सबको कानूनी तौर पर निर्धारित न्यूनतम मजदूरी पर रोजगार उपलब्ध कराना होना चाहिए। जो लोग इसे स्वीकार करते हैं वे आमतौर पर बेहतर स्थिति में होंगे। कोई छोटा किसान या मामूली व्यापारी प्रस्तावित न्यूनतम मजदूरी पर हो सकता है कि काम न करे क्योंकि उसके बिना ही वह बेहतर जिंदगी जी सकता है। फिर भी यदि उनकी प्रत्याशा फलीभूत नहीं होती है तो हमेशा ही न्यूनतम मजदूरी

पर काम करने का अवसर उन्हें प्राप्त रहेगा। यह एक साथ दो उद्देश्यों को पूरा करता है। पहला, जिन व्यक्तियों को सचमुच न्यूनतम मजदूरी की जरुरत है वे उस पर काम करने के लिए 'अपने आप को प्रस्तुत करेंगे'। इसके जरिए यह परिभाषित करने के दौरान कि किसे काम की आवश्यकता है अनेक प्रशासनिक समस्याओं और भ्रष्टाचार से बचा जा सकेगा। दूसरा, यह अप्रत्यक्ष रूप से हमारी जनसंख्या के अत्यंत कमजोर श्रेणियों को सामाजिक बीमा की व्यापक सुरक्षा प्रदान करेगा। उनके लिए वैकल्पिक रोजगार के अवसर के रूप में यह आखिरी सहारा होगा भले ही सामान्य परिस्थितियों में इसे लेने की आवश्यकता नहीं होती।

उस किसी भी बीमा की योजना की बेतुकी संभावनाएं होती हैं जो संयोग के कारक और दो पक्षों के भिन्न हितों को लेकर चलती है। उनमें से एक पक्ष योजना का नाजायज फायदा उठाने की कोशिश कर सकता है जिससे एक प्रकार का नैतिक खतरा पैदा हो सकता है। उदाहरण के लिए, न्यूनतम मजदूरी पर आधारित व्यापक रूप से गारंटीशुदा रोजगार योजना में कोई मजदूर काम करने से इंकार कर सकता है, बर्खास्त किया जा सकता है, या अन्यत्र जाकर गारंटीशुदा रोजगार का लाभ ले सकता है। फिर भी इसको व्यापक रूप से अपनाना असंभव है क्योंकि ग्रामीण क्षेत्र में अधिकतर रोजगार के अवसर स्थानीय तौर पर दिए जाते हैं। मजदूर को रोजगार बदलने से पैसे का कोई फायदा नहीं होगा। हो सकता है दूरदराज काम करने के लिए मजबूर होकर उसे पैसों का नुकसान हो। नैतिक खतरे का आम मुद्दा बीमा कार्यक्रमों के साथ जुड़ा होता है, जो किसानों के लिए फसल बीमा के सिलसिले में अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हो सकते हैं, मगर जहां तक न्यूनतम मजदूरी पर व्यापक रोजगार की योजना का संबंध है, वे गौण महत्व का मुद्दा होंगे। इस योजना से दोहरा लाभ है : स्वयं चयन, और किसी निरीक्षण के बिना बीमा कवच का गरीबों तक पहुंचना, जिससे प्रशासनिक लागत में भारी कमी होगी।

योजना का सकारात्मक सामाजिक प्रभाव के कहीं अधिक महत्वपूर्ण होने की संभावना है। वह असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को अन्यायपूर्ण बरताव

के अधिक कारगर प्रतिरोध के लिए सशक्त बनाएगी क्योंकि उनके पास रोजगार का एक वैकल्पिक अवसर होगा। परंपरागत श्रम संगठन की व्यवस्था के बिना भी वह निर्धनतम कार्यशील लोगों के अधिकारों को सुदृढ़ करेगी। परिणामस्वरूप लिंग, जाति और धार्मिक भेदभाव का कार्यस्थल पर अधिक प्रभावकारी ढंग से मुकाबला किया जा सकेगा। बेशक, जो उद्देश्य सैकड़ों कानून, और अलग-थलग प्रयास गरीबों तथा लाचार लोगों के अधिकारों को सुनिश्चित करने में स्वतंत्र भारत में असफल रहे हैं उन्हें हम इस एक ही योजना के जरिए अधिक कारगर ढंग से प्राप्त करने में सक्षम हो सकते हैं।

फिर भी, पाठक पूछ सकता है कि क्या यह हवाई किला बनाने जैसा नहीं है। क्या भारत जैसा एक देश कानूनन नियत न्यूनतम मजदूरी पर आधारित कोई व्यापक रोजगार गारंटी योजना को चला सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें उसके दो पहलुओं पर अलग-अलग ध्यान देना होगा। दूसरे शब्दों में, हमें देखना होगा कि वास्तविक वस्तुओं और सेवाओं के रूप में इसका अर्थव्यवस्था के लिए क्या अर्थ है, और फिर उसका मौद्रिक या आर्थिक पहलू क्या है? सरकारी अर्थशास्त्री और वित्तमंत्री इस बात पर गर्व करते हैं कि वे "व्यावहारिक व्यक्ति" हैं, और वे केवल वित्तीय पहलू पर ही विचार करते हैं। यह बुरा अर्थशास्त्र है जो आमतौर से बहीखाता वाले अंकगणित के सिवाय कुछ भी नहीं होता, और कई स्थितियों में भ्रामक हो सकता है। वस्तुतः सावधानी पूर्वक आर्थिक तर्क के बिना यह दृष्टिकोण उन्हें "संरचना के तर्कदोष" की ओर ले जाता है जिसकी ओर पिछले अध्याय में इशारा किया जा चुका है। यह व्यक्ति से जुड़े व्यष्टिगत आर्थिक तर्क का अर्थव्यवस्था की क्रियाविधि के समष्टिगत आर्थिक तर्क के साथ घालमेल करता है। व्यक्ति के आर्थिक तर्क को समझना आसान है क्योंकि वह बहीखाता या परिवार अथवा सरकार द्वारा बजट निर्माण जैसा होता है। इस प्रकार वित्तीय पहलू सहज बुद्धि की बात लगता है। किंतु जब पूरी अर्थव्यवस्था के विषय में वास्तविक दृष्टि से सोचते हैं तो यह बात गलत हो सकती है। इसलिए, आइए हम अपना ध्यान पहले कानूनी तौर पर नियत

न्यूनतम मजदूरी के आधार पर पूर्ण रोजगार की गारंटी करने वाली योजना के वास्तविक पहलू की ओर दें।

इस योजना की जीवनक्षमता के अल्पकालीन और दीर्घकालीन पहलू हैं। दीर्घकालीन पहलू बेरोजगार लोगों को मजदूरी या क्रयशक्ति प्रदान करने के मांग पक्ष का उच्चतर रोजगार के आधार पर उत्पादन या पूर्ति के साथ मेल बैठाने पर निर्भर होता है। मान लें कि 1000 अतिरिक्त व्यक्तियों को इस योजना द्वारा 60 रुपए की दैनिक मजदूरी पर प्रति वर्ष 300 दिनों तक काम पर लगाया जाता है। यदि मजदूर अपनी सारी मजदूरी की रकम विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च करते हैं तो कुल मांग एक करोड़ अस्सी लाख ($1000 \times 60 \times 30$) रुपए की होगी। योजना की दीर्घकालीन जीवनक्षमता की अपेक्षा होगी कि अर्थव्यवस्था में काम पर रखे गए अतिरिक्त एक हजार मजदूर एक करोड़ अस्सी लाख रुपए मूल्य का उत्पादन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से करें। इसके अतिरिक्त पैदा की गई वस्तुओं और सेवाओं की संरचना मांग की संरचना के अनुकूल हो। यहां ध्यान देने की एक महत्वपूर्ण बात यह है कि अगर हम पूरी अर्थव्यवस्था को एक साथ लें तो नवनियुक्त लोगों को अर्थव्यवस्था की सामान्य उत्पादक क्षमता को बढ़ाने में इतना योगदान देना चाहिए कि कुल मिलाकर मांग और पूर्ति के बीच मेल संभव हो। फिर भी, पूरी अर्थव्यवस्था, न कि प्रत्येक रोजगार परियोजना, के लिए संतुलन बनाना होगा।

विभिन्न रोजगार योजनाओं को अवलंब देने वाली निवेश परियोजनाओं के परिपक्व होने, तथा अतिरिक्त मांग के अनुकूल उत्पादक क्षमता का विस्तार करने में आमतौर से समय लगता है। अतः अतिरिक्त उत्पादक क्षमता के सृजन के द्वारा मांग और पूर्ति के बीच संतुलन कायम करने का प्रयास केवल हमें दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है कि परिस्थितियां कैसी बनेंगीं। हम सदा वर्तमान में रहते हैं, और वर्तमान के बिना कोई भविष्य नहीं हो सकता। यह बात हमारे जनतांत्रिक राजनीतिज्ञों के लिए कहीं अधिक उपयुक्त है क्योंकि वर्तमान में जिंदा रहे बिना वे शायद ही भविष्य के लिए योजना बना सकते हैं! इसलिए यह जानना आवश्यक है कि अल्पकाल में

स्थिति कैसी रहेगी जब तक नई निवेश एवं रोजगार परियोजनाओं के जरिए नई उत्पादक क्षमताओं का सृजन नहीं होता। हम ठीक यहीं यह जोड़ सकते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष वाली शैली का प्रबंधन, और "व्यावहारिक" नीति निर्माता के केवल वित्तीय पहलू पर जोर देने के कारण गलती करने की ओर अग्रसर होते हैं। वे सिर्फ यह मानकर चलते हैं कि परिवार की आय की तरह ही अर्थव्यवस्था की आय निर्दिष्ट होती है। वास्तविक रूप में इसका तात्पर्य है कि अल्पकाल में उत्पादन निर्दिष्ट होता है। अतः यदि अर्थव्यवस्था रोजगार सृजन पर अधिक संसाधन व्यय करना चाहती है तो उसे अन्य गतिविधियों से संसाधन वापस लेने चाहिए। किंतु कोई जरूरी नहीं है कि स्थितियां अवश्यंभावी रूप से इसी तरह की हों क्योंकि संपूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए उत्पादन का स्तर आमतौर से अल्पकाल में, और निश्चित रूप से भारत में, निर्दिष्ट नहीं होता।

वास्तविक अर्थव्यवस्था में अधिक लोगों को काम पर लगाने के लिए विभिन्न प्रकार के निर्माण की गतिविधियों को चलाना होगा जिनके लिए इस्पात, सीमेंट, आदि की आवश्यकता होगी। साथ ही मजदूर अपनी मजदूरी से अधिकांशतया भोजन और वस्त्र खरीदेंगे। इसके बाद अगले चक्र में इस्पात, सीमेंट, भोजन और वस्त्र की पूर्ति करने वाले और कर्मचारी अपने मुनाफे और मजदूरी से अधिक वस्तुएं और सेवाएं खरीदेंगे। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो कई चक्रों तक चलती है मगर हर चक्र में उसका आकार छोटा होता जाता है। अर्थशास्त्री इसे 'गुणक तंत्र' कहते हैं। ध्यान देने की महत्वपूर्ण बात है कि तत्काल हमारे पास इस्पात, सीमेंट एवं कपड़ा उत्पादन की अत्यधिक क्षमता और सरकारी गोदामों में प्रचुर अनाज है। हमने विदेशी विनिमय का बड़ा संचित भंडार भी जमा कर लिया है जो कुछ वस्तुओं की पूर्ति में कमी होने पर प्रतिरोधक के रूप में काम कर सकता है। दूसरे शब्दों में, अल्पकाल में भी काफी हद तक वास्तविक अर्थव्यवस्था में उत्पादन-विस्तार के रास्ते में कोई स्पष्ट रुकावट नहीं है। यह घरेलू मांग के विस्तार के अनुकूल संबद्ध कई उद्योगों में मौजूद अतिरिक्त क्षमता के इस्तेमाल से हो सकता है। जहां तक वास्तविक अर्थव्यवस्था का संबंध है, अल्पकाल में उच्चतर रोजगार से उत्पन्न घरेलू मांग

के विस्तार को पूरा करने की स्थिति में हम अनेक उद्योगों की वर्तमान अतिरिक्त क्षमताओं और गोदामों में रखे गए अनाज के इस्तेमाल द्वारा है। प्रतिरोधक के तौर पर संचित विदेशी विनिमय की उपस्थिति को देखते हुए भारतीय अर्थव्यवस्था कभी ऐसी खुशकिस्मत हालत में नहीं रही है। हमें इस अवसर को हाथ से नहीं जाने देना चाहिए, और आत्मनिर्भर हो पूर्ण रोजगार के लक्ष्य की ओर प्रयाण करना चाहिए।

किंतु इस अवसर को अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा प्रचारित एक सिद्धांत के कारण नहीं ग्रहण किया जा रहा। इस सिद्धांत के उदाहरणस्वरूप हमारा राजकोषीय उत्तरदायित्व और बजट प्रबंधन अधिनियम (Fiscal Responsibility and Budget Management Act) है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि अल्पकाल में अर्थव्यवस्था का उत्पादन नहीं बढ़ाया जा सकता। सरल शब्दों में, यह मानकर चलता है कि कोई अतिरिक्त क्षमता नहीं है, और न ही बेरोजगारी है। हमारे उपर्युक्त उदाहरण की इस्पात और सीमेंट बनाने वाली फर्में यदि अधिक आर्डर प्राप्त कर लेती हैं तो ऐसी कोई गुंजायश नहीं है कि वे अपने वर्तमान कारखानों में, बिना पहले नए कारखाने बनाए अधिक उत्पादन कर सकें। यह विचार भारतीय संदर्भ में इस बेतुकी मान्यता की उपज है कि अर्थव्यवस्था के संसाधन पूरी तरह उपयोग में लाए जा रहे हैं, और वर्तमान क्षमता के अपेक्षाकृत अधिक इस्तेमाल से उत्पादन का विस्तार नहीं हो सकता, भले ही मांग और घरेलू बाजार का आकार उच्चतर रोजगार के फलस्वरूप बढ़े।

हमारी आर्थिक नीतियों के प्रभारी "व्यावहारिक" व्यक्ति और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के 'विशेषज्ञ' बहुधा हमें या शायद खुद को चक्कर में इस घिसी-पिटी अनुरूपता द्वारा डालना चाहते हैं कि कोई भी व्यक्ति तब तक निवेश नहीं कर सकता जब तक उतनी राशि बचत न करे। फिर कोई दूरदर्शी सरकार ऐसा कैसे कर सकती है? उत्तर सरल है : यदि सरकार द्वारा इस्पात और सीमेंट की मांग की जाती है, और अगर मुद्रा केवल छापी जाती, तथा मजदूरों को मुख्यतया भोजन और वस्त्र खरीदने के लिए मजदूरी के तौर पर दी जाती है, तो इन वस्तुओं की पूर्ति या बचत वर्तमान अतिरिक्त क्षमता, तथा

अनाज से भरे गोदामों से आएगी।

उच्चतर रोजगार से उत्पन्न अतिरिक्त मांग को अधिकांशतया वर्तमान क्षमता के इस्तेमाल, तथा कुछ खास वस्तुओं की कमी पर पार पाने के लिए आवश्यकता पड़ने पर विदेशी विनिमय के आरक्षित भंडार के कुछ भाग के उपयोग से पूरा करना निश्चित रूप से अल्पकालीन हल हो सकता है। इस हल का अल्पकाल में बिना सहारा लिए हम पूर्ण रोजगारयुक्त समाज की ओर नहीं बढ़ सकते। किंतु कालक्रम में पूर्णरोजगार बनाए रखने के लिए हमें निश्चित रूप से समस्या को दीर्घकालीन संदर्भ में रखना होगा। इसके लिए आवश्यक है कि हमें उन परियोजनाओं के स्वरूप का अधिक सावधानी पूर्वक विश्लेषण करना चाहिए जो अतिरिक्त रोजगार पैदा करेंगीं। साथ ही हमें उस वैधानिक प्रशासनिक चौखटे का भी विश्लेषण करना चाहिए जिसके दायरे में परियोजनाओं को चलाया जाएगा। इस संदर्भ में निर्वहनीय पूर्ण रोजगार योजना के तीन अलग-अलग पहलुओं पर उसकी सफलता के लिए विचार करना होगा।

पहला, और सबसे महत्वपूर्ण, पहलू है कि योजना को सरकार से बेरोजगार गरीबों को मात्र आय हस्तांतरण के रूप में नहीं देखना चाहिए। इसके लिए हमारे नीति निर्माताओं के नजरिए में बदलाव की जरुरत है। आर्थिक चिंतन की वह आदत जो उच्चतर संवृद्धि की समस्या को उच्चतर रोजगार की समस्या से अलग करती है भ्रामक है और सहभागिता वाले जनतंत्र की भावना के प्रतिकूल पड़ती है। उदाहरण के लिए, यह कथन जो दावा करता है कि सकल घरेलू उत्पाद में 10 प्रतिशत संवृद्धि एक पूर्ण रोजगार कार्यक्रम के बोझ के लिए आवश्यक है इस बिंदु को दरकिनार कर देता है। इस समस्या को दूसरी तरह से रखा जाना चाहिए। नीति-निर्माताओं को इस प्रश्न के साथ आरंभ करना चाहिए कि कितना अतिरिक्त उत्पादन उत्पादकतापूर्ण रोजगार के तहत पैदा करने में अर्थव्यवस्था सक्षम होगी, और किस हद तक इससे संवृद्धि दर बढ़ेगी। दूसरे शब्दों में, संवृद्धि दर को पूर्ण रोजगार नीति के परिणाम के रूप में देखा जाना चाहिए न कि अपने आप में साध्य के रूप में। इसका अर्थ है कि पूर्ण रोजगार बनाए रखने की विभिन्न

परियोजनाओं को सरकारी अफसरशाही द्वारा गरीबों को भीख के रूप में नहीं देखना चाहिए। विगत काल में अकसर ऐसा ही हुआ है। इसके बदले रोजगार ऐसी सच्ची निवेश परियोजनाओं से पैदा करना होगा जो अर्थव्यवस्था की उत्पादक क्षमता को बढ़ाएं। यह सोचना गलत है कि आर्थिक संवृद्धि कितनी भी अधिक क्यों न हो, अपने से गरीबों को सम्मान दे सकती है। आर्थिक संवृद्धि राज्य की कुछ पुनर्वितरणात्मक नीतियों के साथ भी इस उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकती।

इसके विपरीत आर्थिक संवृद्धि गरीबों को तभी सम्मान दे सकती है जब वे उत्पाद के उत्पादन और वितरण में पूरी तरह भाग लें। यह हमेशा ही चिंतन के अफसरशाही तरीके के लिए एक पराई अवधारणा रही है भले ही वह दक्षिण या वामपंथी सरकार के अंतर्गत कार्यरत क्यों न हो। किसी भी पक्ष के सिद्धांतकारों ने इस मुद्दे का सामना नहीं किया है। वामपंथी जो परंपरागत रूप से पार्टी द्वारा नियंत्रित राज्य के तंत्र पर संवृद्धि के प्रोत्साहन और आय के पुनर्वितरण के लिए निर्भर रहे हैं इस विचार से बेचैनी महसूस करेंगे। गरीबों को सम्मान, जो आय और काम से उनके अधिकार के तौर पर प्राप्त होता है न कि राज्य द्वारा उन पर अनुग्रह करने से, उन्हें एक स्वतंत्र आवाज प्रदान करता है। वह राज्य की नौकरशाही तथा गद्दी पर बैठी पार्टी की केंद्रीकृत सत्ता को कमजोर करने की ओर उन्मुख होता है। गरीबों के लिए काम से सम्मान की धारणा बाजार उन्मुख सुधारकों की संभावनाओं के क्षितिज पर और भी कम दिखती है। उनके लिए गरीब और बेरोजगार आंशिक रूप से बाजार की 'कुशल' कार्रवाई के कारण उत्पन्न एक समस्या से अधिक कुछ भी नहीं हैं। अधिक से अधिक वे यह मानने की कृपा करते हैं कि समस्या का समाधान गरीबों और बेरोजगार लोगों को खैरात बांट कर किया जाए। अतः इस विचार के अनुसार हमें उदारीकरण के जरिए उच्च संवृद्धि की आवश्यकता है जिससे गरीबों को खैरात दी जा सके। वामपंथ और दक्षिणपंथ, दोनों, की ये मनोवृत्तियां हानिकर हैं। गरीब समस्या नहीं, बल्कि समाधान के अंग हैं। दूरस्थ नौकरशाही, केंद्रीयकृत राज्य अथवा बाजार एवं निजी क्षेत्र की कल्पित कुशलता उनके लिए समस्या का

समाधान नहीं कर सकती। अपनी समस्या के समाधान के लिए पहल मुख्यतया उनकी ओर से होनी चाहिए।

दूसरा, कालक्रम में जारी रखने के लिए आवश्यक है वस्तुतः उत्पादक परियोजनाओं की, जिनका वास्ता गरीबों से है, पहचान कर रचना की जाए। अधिक रोजगार के सृजन के साथ ही उन्हें उत्पादक क्षमता के विस्तार में पर्याप्त योगदान करना चाहिए। फलस्वरूप उन्हें उच्चतर रोजगार के जरिए उत्पन्न अतिरिक्त मांग के अनुरूप अर्थव्यवस्था में वस्तुओं एवं सेवाओं की पूर्ति बढ़ानी चाहिए। अगर यह लक्ष्य प्राप्त कर लिया जाता है तो पूर्ण रोजगार की ओर प्रयाण के दौरान गरीबों को अनिर्वहनीय रूप में आय का बड़ी मात्रा में हस्तांतरण नहीं होगा, बल्कि वे स्वयं आर्थिक विकास में योगदान करेंगे। इस दृष्टि से ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबों के लिए रोजगार और जीविका सृजन करने वाले लगभग सारे सरकारी कार्यक्रमों का निष्पादन विफल रहा है। उनकी विफलता के कारण अनेक रहे हैं और अलग-अलग कार्यक्रम के लिए एक समान नहीं रहे हैं। परंतु उनमें दो समान तत्त्व हैं। गरीबों के लिए योजना बनाने वाली दूरस्थ नौकरशाही निरपवाद रूप से ऐसी परियोजनाएं बनाने में असफल रही है जो स्थानीय भागीदारों की नजर में स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल और स्थानीय जरुरतों को पूरा करने में सक्षम हो। यह स्थानीय भागीदारी को निश्चित रूपेण अनेक प्रकार से कम करती है। नाममात्र स्थानीय भागीदारी के कारण परियोजनाओं की देखरेख ऊपर से करनी पड़ती है, और आमतौर से इसके परिणामस्वरूप देखरेख की लागत पूरी लागत का एक बड़ा भाग होती है। दूसरा तत्त्व यह है कि ऊपर से नियोजन करने वाली नौकरशाही काफी हद तक किसी के प्रति जिम्मेदार नहीं होती भले ही वह स्थानीय जनता के लिए अदृश्य न हो। फिर भ्रष्ट राजनीतिक नेता इस व्यवस्था में बदलाव सुविधाजनक नहीं पाते। वे पूरी तरह से उनकी पहुंच के बाहर होते हैं जिनकी उन्हें सेवा करनी है, और इस प्रकार वे गरीबों के प्रति जिम्मेदार नहीं होते। यह समस्या निर्वाचित सांसदों एवं विधायकों की स्थानीय परिदृश्य से अनुपस्थिति से कहीं अधिक उलझ जाती है। ये सांसद और विधायक केवल चुनाव के समय ही प्रकट

होते हैं। इससे शायद ही कोई आश्चर्य होगा कि इन परियोजनाओं में जिस स्थानीय जनसंख्या को योगदान करना और इनसे फायदा उठाना होता है वह अधिकांशतया अलग-थलक होती है। उसका अलगाव इतना बड़ा होता है जितना नीति निर्माता उच्चतर नौकरशाही तथा ऊंचे स्तर पर बैठे जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों से होता है। जनता के प्रति जिम्मेदारी प्रभावहीन हो जाती है, भले ही उसका कानून में अस्तित्व होता है। व्यवहार में जिम्मेदारी न होने पर सत्ता का दुरुपयोग और भ्रष्टाचार ही होगा। विगत काल के निरानंद अनुभवों से अलग हटने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही गरीब और बेरोजगार एक समस्या नहीं रह जाएंगे, बल्कि हमारी आर्थिक समस्याओं के समाधान का एक हिस्सा बन जाएंगे।

स्थिति में सुधार लाने के लिए हमें दो आधारभूत स्तंभों पर निर्भर रहना आवश्यक है। पहला, परियोजनाओं की पहचान, रचना और कार्यान्वयन को यथासंभव अधिक से अधिक विकेंद्रीकृत कर देना चाहिए जिससे प्रत्यक्ष रूप से उन लोगों को उनमें शामिल किया जाए जो उनमें योगदान करने के साथ ही उनसे लाभान्वित होंगे। दूसरा, परियोजनाओं की पहचान, रचना और कार्यान्वयन के सभी चरण पारदर्शी और जिम्मेदार होने चाहिए। उन्हें ऐसी कार्यविधियों पर आधारित होना चाहिए जिनसे अभीष्ट लाभार्थी उनकी जांच-पड़ताल कर सकें।

हमारे राज्यतंत्र की तमाम समस्याओं, और हमारे राष्ट्र राज्य की सीमाओं के बावजूद इन रास्तों पर पूर्ण रोजगार के कार्यक्रम चालू करने की दृष्टि से भारत आज की तुलना में कभी बेहतर स्थिति में नहीं रहा। फिर भी आगे की यात्रा काफी लंबी और कठिन है किंतु कई दृष्टियों से वह अब संभाव्य राजनीति के दायरे में है। भारतीय संविधान का 73 वां संशोधन जो 1993 में आया (साथ ही उसके बाद आया 74 वां संशोधन) मुख्यतया पंचायतों के संस्थान के जरिए स्थानीय स्वशासन के लिए कानूनी जमीन तैयार करता है।

वर्ष 2005 में पारित राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना अब भी कई दृष्टियों से अधूरी है। फिर भी, सरकार और मीडिया में बैठे हमारे आर्थिक

पंडितों के जोरदार विरोध के बावजूद वह कम से कम समस्या के महत्त्व को स्वीकार करने और एक पूर्ण रोजगारयुक्त समाज की ओर बढ़ने के लिए कानूनी जमीन तैयार करती है। अखिल भारतीय स्तर पर सूचना का अधिकार अधिनियम रोजगार सृजन से जुड़ी परियोजनाओं के वित्त पोषण एवं कार्यान्वयन सहित विभिन्न स्तरों पर पारदर्शिता और जवाबदेही के लिए कानूनी आधार तैयार करेगा। हम सबको मालूम है कि भारत में कानून बन जाने मात्र से समस्या का समाधान नहीं हो सकता। मगर हमें यह भी मानना पड़ेगा कि पूर्ण रोजगारयुक्त समाज के लिए जिसमें गरीबों को सम्मान मिलेगा, लोगों की आम लाभबंदी और आंदोलन अब कम से कम कानूनी हो गया है, भले ही आसान न हो।

विकेंद्रीकरण का सारतत्त्व निर्वाचन क्षेत्रों, प्राधिकरणों और जिम्मेदारियों का सीमांकन है। केंद्रीय सरकार और राज्य सरकारों के बीच सीमांकन रेखाएं कालक्रम में स्पष्टतर हुई हैं यद्यपि अब भी अस्पष्टता भरे अनेक क्षेत्र मौजूद हैं। यद्यपि सीमांकन को भारतीय संविधान में उजागर किया गया था फिर भी उसकी अनेक व्यावहारिकताएं धीरे-धीरे एक लंबी ऐतिहासिक, मगर बहुधा टेढ़ी-मेढ़ी प्रक्रिया से ही प्रकट हुईं। इसके विपरीत स्थानीय स्वशासन के मुख्य आधार के रूप में पंचायतों की स्वीकार्यता काफी धीमी गति से आई है। वह 'राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों' के अंतर्गत भारतीय संविधान (भाग IV, अनुच्छेद 40) में प्रयोगात्मक रूप से आई, और जब तक 1993 में 73 वां संशोधन मंजूर नहीं हुआ तब तक पंचायतों के किसी भी स्वायत्त कार्यकलाप को मान्यता नहीं थी। वस्तुतः, यद्यपि 73 वें संशोधन ने पंचायतों के महत्व को स्वीकारा है और 'आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय के लिए ग्रामीण क्षेत्र योजना' तैयार करने का आदेश दिया है, देश के एक या दो राज्यों को छोड़कर यह प्रक्रिया शायद ही गंभीरता के साथ शुरू हुई है। कुल मिलाकर, अधिकतर राज्यों में पंचायतों को बिना किसी वास्तविक स्वायत्तता के राज्य सरकारों की नीतियों के कार्यान्वयन का प्रशासनिक उपकरण मात्र माना जाता है। उन्हें नीतियां बनाने और कार्यान्वित करने के बदले राज्य सरकार के आदेशों को लागू करने का काम दिया जाता

है। जब तक इसमें बदलाव नहीं आता, और हम यह नहीं स्वीकार करें कि भारत में केंद्र, राज्यों और पंचायतों की एक त्रिस्तरीय प्रातिनिधिक शासन प्रणाली है और हर स्तर पर स्वायत्तता का स्पष्ट रूप से सीमांकन हुआ है, तब तक विकास की प्रक्रिया का सार्थक रूप से विकेंद्रीकरण नहीं हो सकता।

पंचायतों के जरिए विकेंद्रीकरण हमारे जनतंत्र के काम करने के ढंग में भारी परिवर्तन ला सकता है। आज संसद के दोनों सदनों में कुल मिलाकर 790 सदस्य हैं। पच्चीस विधानसभाओं और विधान सभाओं से युक्त दो संघीय क्षेत्रों में कुल मिलाकर 4173 सदस्य हैं। संविधान के 73 वें और 74 वें संशोधनों द्वारा प्रस्तुत स्थानीय शासन की नई प्रणाली के अंतर्गत 95 नगर निगमों, 1436 नगरपालिकाओं और 2055 नगर पंचायतों सहित 532 जिला पंचायतों, 5912 पंचायतों और 231630 ग्राम पंचायतों में कुल मिलाकर लगभग 30 लाख निर्वाचित प्रतिनिधि होंगे। यह केवल प्रतिनिधियों की संख्या में ही परिवर्तन नहीं है। यह हमारे राजनीतिक जनतंत्र को अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष बनाकर हमारे जनतंत्र को गहरा बनाने का तरीका भी प्रदान कर सकता है। जनता की आवश्यकताओं के प्रति उसको अधिक संवेदनशील बनाकर शासन में अधिक जवाबदेही लाने की संभावना पैदा कर सकता है। आर्थिक विकास स्थानीय आवश्यकताओं के प्रति स्थानीय लोगों की सीधी भागीदारी के बिना संवेदनशील नहीं हो सकता। साथ ही जवाबदेही अधिक संभव हो सकती है क्योंकि पंचायतों के चुने गए प्रतिनिधि आमतौर से आसानी से स्थानीय पहुंच के अंतर्गत होते हैं। और, केवल सहभागिता पर आधारित जनतंत्र ही प्रतिष्ठापूर्ण विकास की आधारशिला प्रदान कर सकता है।

विकास की इस प्रक्रिया को शुरू करने की इस व्यापक रणनीति के अंतर्गत घरेलू बाजार के द्रुत विस्तार और विकेंद्रीकृत उत्पादक क्षमता के निर्माण में गरीब लोगों के भाग लेने से उनकी क्रयशक्ति का संयोजन आता है। इस काम को अधिकतर ग्राम और नगर पंचायतों के स्तर पर करना होगा। मोटे तौर पर क्रयशक्ति का विस्तार प्रारंभ में सार्वजनिक निर्माण

का, अगर आवश्यकता हुई तो, वित्त पोषण केंद्रीय और राज्य बजटों के घाटे से होगा। सार्वजनिक निर्माण कार्य में ग्रामीण संचार, गोदाम, स्थानीय जल-प्रबंधन योजना, जलविभाजक, पाठशाला भवन, स्वास्थ्य केंद्र, स्थानीय वानिकी का कार्य आदि गतिविधियां आ सकती हैं। जब तक अतिरिक्त क्षमता रहेगी, तब तक अल्पकाल में क्षमताओं के बेहतर इस्तेमाल और दीर्घकाल में इन नई परियोजनाओं के कारण सृजित अतिरिक्त उत्पादक क्षमता, दोनों के फलस्वरूप पूर्ति में वृद्धि होगी। फिर भी खास परियोजनाओं को दृष्टांत के रूप में रहना चाहिए। हमारे लिए विस्तार से परियोजनाओं को सूचीबद्ध करना एक विरोधाभास होगा क्योंकि उन्हें स्थानीय लोगों द्वारा निर्धारित स्थानीय आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील होना चाहिए। किसी भी परियोजना के लिए कितनी बाहरी सहायता की जरुरत है इसका निर्णय पंचायत ही करेगी। इसके संभव होने के लिए पंचायतों को पूरी वित्तीय स्वायत्तता के साथ ही पारदर्शिता की निर्णायक शर्त के तहत परियोजनाओं का खाका तैयार करने और कार्यान्वयन की पूरी जिम्मेदारी होनी चाहिए। परियोजनाओं के कार्यान्वयन में पारदर्शिता तभी प्राप्त होगी जब परियोजना में भाग लेने वाले अपने हित में उसकी प्रगति पर निगाह रखें। आज की स्थिति के विपरीत यदि पंचायतों को एक अपेक्षाकृत बड़े बजट पर स्वायत्त निर्णयकारी शक्ति हो तो स्थानीय भागीदारी बढ़ेगी क्योंकि सदस्यों का काफी हद तक अपना निजी हित यह देखने में होगा कि सही परियोजनाओं का चुनाव हो।

हम लोग इस ख्याल के आदी हो गए हैं कि सूचना के अधिकार के तहत पारदर्शिता और जवाबदेही केवल विभिन्न रूपों में भ्रष्टाचार रोकने के लिए ही आवश्यक है। किंतु पारदर्शिता की आवश्यकता हमारी मानसिकता को बदलने के लिए भी है जिससे रोजगार और आय के अधिकार को कार्य के जरिए सामाजिक आय में योगदान की जिम्मेदारी और दायित्व के साथ जोड़ा जा सके। इसे बड़ी आसानी से तब देखा जा सकता है जब चुनी गई परियोजना किसी स्थानीय सार्वजनिक वस्तु का सृजन करती है जिससे उम्मीद की जाती है कि वह मुख्यतया उसके निर्माण में लगे मजदूरों का

भला करे। उदाहरण के लिए, किसी प्राथमिक पाठशाला अथवा स्थानीय गोदाम को ले सकते हैं जो अभाव के मौसम में अनाज का भंडार रखेगा। उसके निर्माण में लगे मजदूरों की दिलचस्पी उसकी प्रगति पर निगाह रखने में होगी अगर उनके बच्चों को पाठशाला जाना हो या गोदाम उन्हें अभाव के मौसम में सस्ता अन्न प्रदान करे। और इससे स्थानीय निर्माण कार्यों के जरिए विकेंद्रीकरण के सिलसिले में एक महत्वपूर्ण व्यावहारिक नियम मिल जाता है। यह मात्र यही है कि जो लोग किसी परियोजना के निर्माण से लाभान्वित होते हैं उन्हें यथासंभव उसकी प्रगति पर निगाह रखने के कार्य में शामिल करना चाहिए। पंचायत के निर्वाचित प्रतिनिधियों की यह जिम्मेदारी होगी कि वे पारदर्शी तरीके से परियोजना का चुनाव कर इसे सुनिश्चित करें।

उपर्युक्त व्यावहारिक नियम का एक महत्त्वपूर्ण फायदा स्थानीय सार्वजनिक वस्तुओं पर एक हद तक गुणवत्ता नियंत्रण परियोजना में भाग लेने वाले मजदूरों के स्वहित के जरिए हो सकेगा। यह एक ऐसी धारणा को भी लागू करेगा जो भारत में लगभग अज्ञात है। स्थानीय स्वास्थ्य केंद्र के भवन का निर्माण, प्राथमिक पाठशाला, गोदाम, पेयजल की सुविधा, सफाई, स्थानीय वानिकी और ग्रामीण सार्वजनिक संसाधनों जैसी अनेक स्थानीय सार्वजनिक वस्तुएं स्थानीय मजदूरों के जीवन-यापन स्तर के लिए पूरक बन सकती हैं। इस अर्थ में वे 'निजी' मजदूरी को संपूरित करने वाली 'सामाजिक' मजदूरी का एक घटक बन सकती हैं। और यदि परियोजनाओं का कार्यान्वयन भलीभांति होता है तो उनसे जुड़े मजदूरों का जीवन-यापन स्तर मौद्रिक मजदूरी में वृद्धि हुए बिना भी ऊंचा उठ सकता है। इस बात पर जोर देना चाहिए कि ये संभावनाएं तभी साकार की जा सकती हैं जब सार्वजनिक कार्यों को पंचायत के स्तर पर स्वायत्तता और जवाबदेही के साथ विकेंद्रित किया जाय।

एक अत्यंत गंभीर खतरा, जो पूर्ण रोजगार की योजना को पटरी से उतार सकता है वह पंचायतों को एकतरफा आय का हस्तांतरण है। जब तक स्थानीय निवेश स्थानीय उत्पादन और आय सृजन की क्षमता को नहीं बढ़ाते, और केंद्रीय, राज्य और स्थानीय शासन को अधिक संसाधन उपलब्ध

कराने के लिए अर्थव्यवस्था की पूरी संवृद्धि दर को बढ़ाने में योगदान नहीं करते तब तक पूर्ण रोजगार की ओर तेजी से बढ़ने की रणनीति नहीं चलाई जा सकती। फलस्वरूप परियोजनाओं के नियोजन एवं कार्यान्वयन में स्थानीय निकायों को स्वायत्तता होगी साथ ही उन्हें इन परियोजनाओं के उत्तरोत्तर वित्त पोषण की भी जिम्मेदारी लेनी होगी।

ताजा अखिल भारतीय आंकड़े दिखलाते हैं कि ग्रामीण गैर कृषि क्षेत्र को ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार में हुई अधिकांश वृद्धि का श्रेय है। रोजगार में उसका हिस्सा 1977-78 में 17 प्रतिशत था जो 2000 ई. में बढ़कर 24 प्रतिशत हो गया। इसके अतिरिक्त औसतन गैर कृषि क्षेत्र में कृषि से जुड़ी गतिविधियों की तुलना में प्रति मजदूर उत्पादकता और आय काफी ऊंची है। विभिन्न क्षेत्रीय सर्वेक्षणों और आंकड़ों के विश्लेषण से प्रकट होता है कि गैर कृषि रोजगार के सृजन के पीछे मुख्य चालक शक्ति कृषि नहीं, बल्कि ग्रामीण आधारभूत ढांचा है। सेवाओं के क्षेत्र में रोजगार की संवृद्धि विशेष रूप से आधारभूत ढांचे की उपलब्धि पर निर्भर होती है। विकेंद्रीकृत सार्वजनिक कार्य विभिन्न प्रकार का स्थानीय आधारभूत ढांचा बनाने में मदद दे सकता है। वह उसे बड़े आधारभूत ढांचे की सुविधाओं जैसे पार्श्वपथों, छोटे गोदामों, सहायक नहरों आदि से जोड़ सकता है। यद्यपि पंचायतों को परियोजनाओं के चयन में स्वतंत्रता होगी फिर भी उपर्युक्त चर्चा एक दूसरा व्यावहारिक नियम सुझाती है। ऐसी तुरंत परिणामदायी परियोजनाओं को पसंद किया जाना चाहिए जिनमें ग्रामीण गैर कृषि क्षेत्र में अनपेक्षित फायदे के तौर पर रोजगार पैदा करने की क्षमता हो। यह पसंद उनके द्वारा स्थानीय आय सृजन को बढ़ाने और पंचायतों को अपने सदस्यों पर करारोपण के जरिए अपनी गतिविधियों के वित्तपोषण में सक्षम बनाने के आधार पर हो। तुरंत परिणामदायी यह निर्णय करने के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं कि कोई पंचायत अपना कार्य करने में सक्षम है या नहीं। दीर्घकाल में परिणाम देने वाली और अधिक खर्चीली परियोजनाओं को सामान्य नियम के रूप में तब तक अनुत्साहित किया जाना चाहिए जब तक पंचायत संतोषप्रद प्रगति का प्रमाण प्रस्तुत करने में सक्षम न हो।

अब हम विकेंद्रीकृत रोजगार सृजन परियोजनाओं के पोषण के लिए स्थानीय तौर पर संसाधन जुटाने के तीसरे, और शायद सबसे विवादास्पद पहलू की ओर आते हैं। चूंकि भूमि पर निजी स्वामित्व है, इसलिए अनेक स्थितियों में एक हद के बाद निजी जमीन पर अतिक्रमण किए बिना लाभदायक सार्वजनिक निर्माण कार्य करना कठिन होगा। सुनिश्चित रोजगार योजना में लगे मजदूरों को निजी भूमि पर काम करने की अनुमति दी जा सकती है यदि (क) निजी भूस्वामी पंचायत द्वारा तय मजदूरी खर्च का एक बड़ा हिस्सा दें, और (ख) निजी भूमि पर कार्य का कुछ अनपेक्षित फायदा स्थानीय समुदाय को भी मिले। पंचायतों के निर्वाचित प्रतिनिधियों के ऊपर होगा कि वे ये निर्णय पारदर्शी तरीके से लें। इससे हमें विकेंद्रीकृत रोजगार सृजन का तीसरा व्यावहारिक नियम मिलता है। जिस किसी व्यक्ति को फायदा पहुंचता है वह निजी भूमि पर होने वाले कार्य के लिए कुछ भुगतान करे जबकि भुगतान का परिणाम परियोजना द्वारा सृजित अनपेक्षित फायदों के अनुसार परिवर्तित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, इन कार्यों को तभी आरंभ किया जाएगा जब उपर्युक्त स्थानीय सार्वजनिक कार्य उपलब्ध न हों।

पंचायतों की स्वायत्तता के साथ समझौता किए बिना स्थानीय स्तर पर परियोजनाओं की पहचान के लिए तीन मोटे पथप्रदर्शकों को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

(क) यथासंभव प्रत्यक्ष लाभभोगियों को मजदूर के रूप में शामिल करना।

(ख) तुरंत परिणामदायी परियोजनाओं को प्राथमिकता जब तक कि निष्पादन क्षमता के रूप में किसी पंचायत की पिछली गतिविधि का प्रमाण न मिल जाय।

(ग) परियोजना की गैर कृषि रोजगार सर्जक गतिविधियों की संभावना पर जोर।

(घ) इस शर्त पर सार्वजनिक श्रम का निजी भूमि पर उपयुक्त सार्वजनिक परियोजना की अनुपस्थिति में इस्तेमाल कि लाभ-

भोगी लागत का एक हिस्सा भी वहन करेंगे। लागत के कितने भाग को निजी तौर पर वहन किया जाएगा यह इस बात पर भी निर्भर करेगा कि किस हद तक परियोजना के सकारात्मक अनपेक्षित फायदे स्थानीय समुदाय को मिल रहे हैं।

यदि हम यह विश्वास कर लें कि केवल विकेंद्रीकरण के जरिए पंचायतें सहभागिता वाला जनतंत्र लाएंगीं तो यह हमारा ख्याली पुलाव पकाना होगा। कानूनों द्वारा यह शर्त रखने के बाद भी कि पंचायत के सदस्यों में एक तिहाई महिलाएं तथा पांचवां हिस्सा दलित होंगे, पंचायतों के ऊपर अनेक जगहों में धनी लोगों, उच्च जातियों, और सुविधाभोगी जनों का ही दबदबा बरकरार है। सांसदों, विधायकों और नौकरशाही का भी निहित स्वार्थ सत्ता में हिस्सेदारी नहीं देने में है। किंतु ये आपत्तियां दिखलाती हैं कि सत्ता के किसी भी सच्चे विकेंद्रीकरण के मार्ग में अवरोधों का सामना सहभागिता वाले जनतंत्र के रास्ते में करना होगा। जहां तक सुविधाभोगी लोगों के दबदबे का संबंध है, यह पंचायतों के सिलसिले में उतना ही सही है जितना देश के अनेक अन्य संस्थानों के विषय में। यह शायद ही पंचायतों के जरिए विकेंद्रीकरण के विरुद्ध वैध तर्क हो सकता है। दूरस्थ क्षेत्रों में गरीब लोग बहुधा बतलाते हैं कि उन पर दबदबा ही नहीं है, बल्कि वे एक तरह की (अर्थ शास्त्रियों की भाषा में) 'कीमत आधारित राशनिंग' का सामना राजनीतिक भागीदारी के सिलसिले में करते हैं। जब किसी व्यक्ति के पास खाने या दवा खरीदने अथवा बच्चे को पाठशाला भेजने के लिए पर्याप्त पैसे नहीं हैं तब वह शहर जाकर वहां ठहरने के विषय में शायद ही सोच सकता है। फलस्वरूप राजनीतिक हेराफेरी होती है। सभी दलों की राजनीतिक रैलियों में 'नेताओं' को सुनने के लिए बसों में भरकर गरीबों को लाया जाता है जिससे राजनीति में जनतांत्रिक भागीदारी का भान हो! शायद गरीबों और अल्प सुविधा प्राप्त लोगों के लिए अपने अधिकारों के वास्ते स्थानीय संस्थानों में लड़ना थोड़ा आसान होगा इसके बनिस्पत कि वे दूरस्थ शहरों में जाकर संघर्ष करें जहां उच्चतर पायदानों पर बैठे राजनीतिक पदाधिकारी और उनके अफसर विराजमान होते हैं। फिर भी, गरीबों के लिए विकेंद्रीकरण

का यह लाभ कभी-कभी राजनीतिक दलों के प्रभाव का फैला, और आसान राजनीतिक 'जुदान' को रोक सकता है। अतः पारदर्शिता युक्त विकेंद्रीकरण किसी भी राजनीतिक दल के लिए आसान खेल नहीं है, और पंचायतों को वास्तविक सत्ता के हस्तांतरण का प्रतिरोध अप्रत्याशित हलकों से भी हो सकता है।

इसके बावजूद सहभागिता पर आधारित जनतंत्र के जरिए विकास प्राप्त किया जा सकता है जो कानूनी न्यूनतम मजदूरी को पूर्ण रोजगार की स्थिति में सामाजिक तौर पर उत्पादक कार्य के साथ जोड़कर गरीबों को यथोचित सम्मान प्रदान करेगा। यह ग्राम और नगर पंचायतों के स्तर पर केवल विकेंद्रीकरण के जरिए संभव है। हमारे जैसे आकार के देश में जहां इतनी भयंकर गरीबी है हमारी राजनीतिक व्यवस्था में बिल्कुल कोई दूसरा सांगठनिक विकल्प नहीं है। गरीबी निवारण के लिए आय और रोजगार सृजन के विभिन्न सरकारी कार्यक्रमों की विगत विफलताओं से यही मुख्य सबक सीखा जा सकता है। इस दृष्टि से देखें तो भारत के विकास में पैसों या संसाधनों का अभाव पूरी तरह आड़े नहीं आता। वस्तुतः हमारी सांगठनिक क्षमता का अभाव बाधक है। और जनतंत्र में समाधान चीनी तरीके से नहीं आएगा जो बहुधा जनता पर, जिसकी कोई आवाज सुने बिना ही कारगर मगर कठोर हल थोपता है। न ही इसका समाधान बहुराष्ट्रीय कंपनियों को भारत में बुलाकर अपना कारोबार मुनाफे के लिए संबद्ध जनता की कोई चिंता किए करने से निकल सकता है। हमारी आर्थिक दृष्टि को संगठन के उन वास्तविक मुद्दों की पहचान में हमें धोखा नहीं देना चाहिए जिनका सामना करना है और अपने संदर्भ में प्रासंगिक राजनीतिक रूप से संभव समाधानों को निकालने में नहीं चूकना चाहिए। अपनी सुनिश्चित आवश्यकताओं के अनुरूप विकास के अनुपम मार्ग का खाका तैयार करने का हमें आत्मविश्वास होना चाहिए।

VI

सार्वजनिक वित्त का 'सरकार– यह नहीं कर सकती' सिंड्रोम

सार्वजनिक वित्त के विषय में अर्थशास्त्रियों की चर्चा मुझे एक पियक्कड़ की कहानी याद दिलाती है। अपने मित्रों के साथ पीने का एक दौर खत्म कर वह बड़ी मुश्किल से वापस अपने घर गया, और उसने पाया कि उसने अपने अपार्टमेंट की चाभी खो दी है। अतः वह निकटतम स्ट्रीट लाइट के पास अपनी चाभी ढूंढ़ने लगा। वह लंबे समय तक असफल प्रयास करता रहा। तभी एक दूसरा पियक्कड़ वहां आया।

"क्या मैं तुम्हारी मदद कर सकता हूं? तुम क्या ढूंढ़ रहे हो?" उसने पूछा।

"अपार्टमेंट की अपनी चाभी। उसके बिना मैं घुस नहीं सकता।"

"क्या तुम्हें पूरा विश्वास है कि तुमने चाभी यहीं खोई है?" कुछ देर तक खोज में हिस्सा लेने के बाद उस मददगार आदमी ने पूछा।

"बिल्कुल नहीं। चूंकि यहां रोशनी है इसलिए यहां ढूंढ़ना आसान है!"

अर्थशास्त्री सार्वजनिक वित्त और सरकारी बजट की चर्चा के दौरान अपने को मान्यताओं के घेरे में रखकर केवल उन्हीं मुद्दों को लेते हैं जिनका वे तकनीकी विश्लेषण कर सकें। यह तथ्य कि अधिकतर स्थितियों में मान्यताएं सर्वथा अनुचित तथा चुने गए मुद्दे बहुधा अप्रासंगिक होते हैं उनके लिए कोई महत्व नहीं रखता। वे अर्थशास्त्रियों, सरकार के सलाहकारों, आर्थिक मामलों के प्रभारी मंत्रियों अथवा अफसरों के रूप में अपरिहार्य

दिखना चाहते हैं। जिस प्रकार पियक्कड़ ने सड़क के बाकी अंधेरे भाग को छोड़कर केवल रोशनी वाले क्षेत्र में अपनी खोज को सही ठहराया उसी प्रकार अर्थशास्त्री कहीं बड़ी तसवीर को भुलाकर मुद्दों के एक छोटे समूह को उजागर कर सार्वजनिक वित्त पर अपने निर्णय सुनाते हैं।

इन दिनों जो मुद्दा अधिकतर अर्थशास्त्रियों का ध्यान अपनी ओर खींचे हुए है वह है सरकारी अथवा सार्वजनिक ऋण की वहनीयता का अंकगणित। भय है कि ऋण इतना विशाल न हो जाय कि सरकार दिवालिया बन जाय और अपने ऋण पर ब्याज न दे पाए क्योंकि देर-सबेर पुनर्भुगतान का बोझ सरकार पर हावी हो जाएगा। वर्षों से अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक ने एक स्वर से उच्च राजकोषीय घाटे के नाम पर भय पैदा करने की ताबड़तोड़ कोशिश की है। यह स्वाभाविक रूप से उनके बाजार के दर्शन के अनुकूल है, जिसका सार यह दावा है कि सरकार का आर्थिक दायरा जितना ही छोटा होगा, आर्थिक प्रबंधन का स्तर उतना ही बेहतर होगा। हमारे राजनीतिक नेता, सरकारी अर्थशास्त्री और मीडिया अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा प्रचारित इस दर्शन को वेदवाक्य मानती है। इसलिए यह उम्मीद करना तर्कसंगत है कि पूर्ण रोजगार सुनिश्चित करने की योजना के विरुद्ध अत्यंत गंभीर आपत्ति इस आधार पर की जाएगी। बाजार उन्मुखी सुधारों को लेकर कमर कसे राजनीतिक नेता, सरकार में बैठे अर्थशास्त्री और मीडिया इस कोरस में शामिल होंगे, "सरकार यह नहीं कर सकती, उसके पास पैसे नहीं हैं।" यह गलत तर्क है। जैसा कि पिछले अध्याय में बतलाया जा चुका है, क्या पूर्ण रोजगार परियोजना को शुरू किया जाय, इसका विश्लेषण दो चरणों में किया जा सकता है : पहला, वास्तविक अर्थव्यवस्था के संदर्भ में, और दूसरा, उसके वित्तपोषण के तरीके को लेकर। यदि घरेलू अर्थव्यवस्था कार्यक्रम को अल्प और दीर्घकाल तक चलाने के लिए आवश्यक अधिकतर वस्तुएं एवं सेवाएं देने में सक्षम हो तो उसके वित्तपोषण के लिए तरीका ढूंढ़ा जा सकता है। मुद्रा अन्ततः केवल एक अत्यंत कुशल मानवीय युक्ति है जो वास्तविक व्यवस्था को काम करने में समर्थ बनाती है।

एक स्तर पर मुद्रा और उसके द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं के

बीच अंतर साधारण होता है। यदि उत्पादन की क्षमता न हो तो घरेलू अर्थव्यवस्था वास्तविक वस्तुओं एवं सेवाओं को उत्पन्न नहीं कर सकती; मगर सरकार रिजर्व बैंक के प्रति देनदारियां बनाकर हमेशा 'मुद्रा छाप' सकती है। इस इंतजाम के तहत सरकार रिजर्व बैंक से उधार लेती है, और सरकार की यह देनदारी रिजर्व बैंक के खातों में समान मूल्य की परिसंपत्ति हो जाती है। रिजर्व बैंक तब करेंसी नोटों के रूप में जनता के प्रति अपनी देनदारियों का सृजन करता है। इस अर्थ में मुद्रा का सृजन या उसकी छपाई दोहरी प्रविष्टि वाली बहीखाता पद्धति को लेकर बाजीगरी दिखाने के सिवाय और कुछ नहीं है। अंततोगत्वा सरकार ही जनता से उधार लेती है मगर उधार की प्रक्रिया रिजर्व बैंक के माध्यम से होती है क्योंकि सरकार को नहीं, बल्कि रिजर्व बैंक को ही करेंसी नोट छापने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त करेंसी नोट 'वैध मुद्रा' इस अर्थ में है कि उनको भुगतानों के निपटारे में स्वीकार करना पड़ता है।

फिर भी वैध मुद्रा के रूप में मुद्रा के गुण-धर्म की दृष्टि से विदेशी और घरेलू ऋण के बीच अंतर होता है। कानूनन भारतीय रुपए को सभी भुगतानों के निपटारे में स्वीकार करना होता है मगर स्वाभाविक तौर पर उसी हद तक लागू होता है जिस हद तक हमारे कानून का वर्चस्व है। कोई भी विदेशी जब तक पुनर्भुगतान के तरीके के रूप में रुपए को स्वीकार करने का करार नहीं करता तब तक वह उसके प्रति देय हमारे ऋण के निपटारे के लिए हमारे रुपए को लेने के लिए बाध्य नहीं है। ऐसा करार विरले ही होता है क्योंकि हमारी करेंसी 'नरम' यानी अपरिवर्तनीय है जिसके प्रति बहुत अधिक अंतर्राष्ट्रीय विश्वास नहीं है। अतः 'सख्त' (यानी परिवर्तनीय) करेंसी में लिए गए ऋणों का भुगतान उन्हीं में करना पड़ता है जैसे डालर में लिया गया ऋण डालर में, यूरो में लिया गया कर्ज यूरो और येन में लिया गया ऋण येन में चुकाना होता है। हमें किसी न किसी तरह यह विदेशी विनिमय हासिल करना होता है। विदेशी विनिमय की प्राप्ति निर्यात, बाहर से भेजे गए धन, या ऋण के जरिए हो सकती है।

विदेशी विनिमय का संकट इस बात का लक्षण, कम से कम विदेशी

ऋण-दाताओं की नजर में है कि सरकार के ऊपर ऋण चुका पाने में असमर्थता का खतरा मंडरा रहा है किंतु ऐसा घरेलू ऋणदाताओं और घरेलू ऋण के सिलसिले में नहीं हो सकता क्योंकि जहां तक रुपयों के रूप में घरेलू ऋण का प्रश्न है भारतीय रुपया एक वैध मुद्रा है। जब तक सरकार जानबूझकर अपने हाथ कानून की जंजीर से नहीं बांध देती तब तक वह घरेलू ऋण के पुनर्भुगतान और ब्याज की अदायगी के लिए हमेशा रिजर्व बैंक से रुपयों की अपेक्षित राशि उधार ले सकती है।

राजकोषीय उत्तरदायित्व और बजट प्रबंधन अधिनियम (फिस्कल रिस्पांसिबिलिटी एंड बजट मैनेजमेंट एक्ट) मूलतः इसी उद्देश्य से बना है। यह स्पष्ट नहीं है कि इससे हमारा क्या भला हुआ है, इसके सिवाय कि हमने प्रत्यक्षतः अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और अप्रत्यक्षतः उसके जरिए वित्तीय बाजारों और अंतर्राष्ट्रीय संस्थागत निवेशकों को प्रसन्न किया है। मगर हमने यथासंभव अल्पतम समय में भारत में उत्पादकपूर्ण रोजगार के कार्यक्रम के वित्तपोषण का एक कारगर तरीका खो दिया है। परिणामस्वरूप गरीबों और बेरोजगारों के हित को काफी हद तक इस अधिनियम के जरिए स्टाक एक्सचेंज के हित के बदले दे दिया है। भारतीय बाजारों में शेयरों की कीमतें थोड़े से बड़े संस्थागत निवेशकों की कार्रवाइयों के प्रति संवेदनशील होती हैं। घरेलू संस्थागत निवेशक सरकार की घोषणाओं, और विदेशी संस्थागत निवेशक अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष तथा कुछ अंतर्राष्ट्रीय साख निर्धारक एजेंसियों के कथनों के प्रति संवेदनशील होते हैं। जब कोई सरकार केवल उदारीकरण और मुक्त बाजार से जुड़े सुधारों की बात करती है, और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष जोर देता है कि अर्थव्यवस्था की तंदुरुस्ती की दृष्टि से सरकारी घाटे का ही सबसे अधिक महत्त्व है तो राजकोषीय उत्तरदायित्व अधिनियम एक संकेत बन जाता है। उसका अभिप्राय शेयर बाजार को यह इशारा करना है कि सरकार वहां निवेशकों के हितों को उच्चतम प्राथमिकता देने की दृष्टि से अर्थव्यवस्था का प्रबंधन करेगी; गरीबों को प्रभावित करने वाली निर्धनता, बेरोजगारी और अन्य बातें कम महत्त्व रखेंगीं। अगर किसी को लगे कि यह तर्क अस्वाभाविक है तो उसे याद करना चाहिए कि भारत में शेयर

बाजार (सेंसेक्स सूचकांक) क्यों 30 अप्रैल और 31 मई, 2004 के बीच जब भाजपानीत गठबंधन आम चुनाव में कांग्रेसनीत गठबंधन से जिसमें वामपंथी दल शामिल थे, परास्त हो गया, धड़ाधड़ गिरने लगा था। इस दौरान सेंसेक्स शेयर कीमतों में नाटकीय गिरावट लगभग पूरी तरह विदेशी संस्थागत निवेशकों द्वारा अपने पैसे वापस ले लेने के कारण आई। यह गिरावट तब तक जारी रही जब तक नए गठबंधन ने अपने निर्णय निर्माताओं की एक ऐसी टोली को नामजद नहीं किया जो मुक्त बाजार की विचारधारा के साथ पूरी तरह प्रतिबद्ध है। शेयर बाजार अविलंब चढ़ने लगा। इस दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था में धरातल पर कोई परिवर्तन नहीं हुआ था केवल इस बात को छोड़कर कि शेयर बाजार घबराया हुआ था कि शायद बाजार हितैषी राजनीतिक नेता सत्ता में न रहें। इसीलिए राजकोषीय उत्तरदायित्व अधिनियम अपना औचित्य वास्तविक अर्थव्यवस्था की क्रियाविधि से प्राप्त करता नहीं दिखता, बल्कि वह एक कूटबद्ध प्रतीक है। वह इस तथ्य का प्रतीक है कि सरकार देश के गरीबों और बेरोजगारों की भलाई की अपेक्षा शेयर बाजार और वहां सक्रिय प्रमुख घरेलू तथा विदेशी खिलाड़ियों के हित को कहीं अधिक ऊंची प्राथमिकता देती है।

इस निष्फल अधिनियम के बावजूद सरकार लाचार नहीं है। यद्यपि सरकार 'मुद्रा छाप'' नहीं सकती अर्थात् रिजर्व बैंक से उधार नहीं ले सकती, फिर भी वह भारतीय जनता या विदेशी ऋणदाता एजेंसियों जैसे विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विदेशी वाणिज्यिक बैंकों से उधार ले सकती है। विदेश में परिवर्तनीय मुद्रा में उधार लेना जिन कारणों से जोखिम भरा है उनकी ओर हम इशारा कर चुके हैं। इससे विदेशी विनिमय का संकट और भुगतान में चूक हो सकती है, किंतु साथ ही एक राजनीतिक खतरा है। मुट्ठी भर बड़े ऋण पैसों को खर्च करने संबंधी निर्णय को प्रभावित कर सकते हैं और करेंगे भी। अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक निश्चित रूप से भारत सरकार पर 'सप्रतिबंधिताएं' (शर्तयुक्तताएं) थोपेंगे। विदेशी वाणिज्यिक बैंक भी अधिकतर अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक के इशारे पर नाचेंगे, और वे सब चाहेंगे कि रोजगार सृजन का काम निजी क्षेत्र द्वारा

हो। वस्तुतः जब कोई सरकार अपनी विचारधारा को दरकिनार कर कहे कि उसे रोजगार सृजन के लिए विदेशी प्रत्यक्ष निवेश चाहिए तो वह इसी भावना को व्यक्त करेगी। किंतु ये भावनाएं और भारी विदेशी ऋण वहन करना न तो हमारी जरुरतों के अनुरूप स्वतंत्र विकास के मार्ग के अनुसरण करने के साथ मेल खाते हैं और न राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के अनुकूल हैं। भारतीय जनता, और घरेलू बाजार पर निर्भर होकर हम निश्चित रूप से कहीं अधिक अच्छा कर सकते हैं।

आदर्श स्थिति होगी कि हम वर्तमान कानूनों में संशोधन करें, और सरकार को रिजर्व बैंक से उधार लेने की अनुमति दें किंतु इसके साथ एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रावधान जुड़ा होना चाहिए। वह एक अलग खाते में उधार लेगी, और उधार ली गई राशि का इस्तेमाल सीधे तौर पर केवल पंचायतें किसी अन्य उद्देश्य के लिए नहीं, बल्कि रोजगार सृजन के लिए करेंगीं। पंचायत से बड़ा कोई अंग इस पैसे का इस्तेमाल करने का अधिकारी न होगा। भारत में पूर्ण रोजगार कार्यक्रम को जोरदार ढंग से आरंभ करने का यह सबसे कारगर तरीका होगा। यह कार्यक्रम साथ ही केंद्र, राज्यों, और ग्राम एवं नगर पंचायतों के स्तर पर शासन की तीन सोपानों वाली सत्ता बनाएगा। हमारे संविधान ने इसकी पहले से ही कल्पना की है मगर इसे वास्तविकता में बदलने के लिए आवश्यक वित्तीय प्रबंधन अभी तक नहीं है। पिछले अध्याय में जैसा उल्लेख किया जा चुका है, इस प्रकार के किसी भी प्रस्ताव का विरोध राजनीतिक दलों की परिधियों को लांघकर विभिन्न निहित स्वार्थ करेंगे, किंतु इसे एक बार राजनीतिक कार्य सूची में डाल दिया जाय तो यह बिल्कुल असंभव नहीं होगा। इसकी अप्रतिरोधात्मक शक्ति इस तथ्य से आएगी कि भारत के बहुसंख्यक गरीब देखेंगे कि यह उनके हित में है, और तब कोई राजनीतिक नेता जनतंत्र में इसकी उपेक्षा नहीं कर सकेगा।

फिर भी राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंधन अधिनियम में संशोधन के द्वारा यह हल उपर्युक्त कारणों से कड़े प्रतिरोध का शिकार हो जाएगा। निश्चित रूप से इसमें काफी समय लगेगा और यह कठिन कार्य

होगा। अतः आदर्श समाधान को आंखों से ओझल किए बिना हमें दूसरे नंबर के हल के विषय में सोचना चाहिए। उसका मुख्य लाभ वर्तमान कानूनी और राजनीतिक ढांचे के प्रतिबंधों के अंतर्गत उसकी अपेक्षाकृत तात्कालिक संभावना होगा। अगर सरकार को कानून इस उद्देश्य के लिए पर्याप्त राशि रिजर्व बैंक से उधार लेने की इजाजत नहीं देता तो वह ब्याज की किसी दर पर जनता से सरकारी प्रतिभूतियां जारी कर ऋण ले सकती है। वर्तमान संदर्भ में "बाजार से ऋण लेने" का यही अर्थ होता है। इसके बावजूद अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक के प्रभाव के कारण सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र में जारी रूढ़िवादिता के प्रतिकूल देश के अंदर ही ऋण लिया जाएगा। नीति निर्धारण में हमारी स्वतंत्रता के लिए यह आवश्यक है कि हम इन संस्थानों द्वारा थोपी जाने वाली सप्रतिबंधिताओं से बचें। इसके अतिरिक्त यह भारतीय स्टाक एक्सचेंज और संस्थागत निवेशकों के गठबंधन को कमजोर करेगा और सरकार को गरीब हितैषी पूर्ण रोजगार नीति चलाने के लिए कहीं अधिक अवसर प्रदान करेगा। ब्याज पर जनता से उधार सार्वजनिक ऋण के शोधन का बोझ खड़ा करेगा। सिद्धांततः जब तक जनता सरकार में अपने पर्याप्त विश्वास के कारण उसकी प्रतिभूतियों को खरीदेगी तब तक सरकार अधिक प्रतिभूतियां जारी कर ऋण का शोधन आसानी से कर सकेगी। जब तक पूर्ण रोजगार प्राप्त नहीं होता तब तक सार्वजनिक ऋण के शोधन का यह तरीका देखकर अनेक अर्थशास्त्रियों की भृकुटि तन सकती है। ऐसा होने पर हमें संयुक्त राज्य अमेरिका के सुविख्यात पूर्व निर्णय को याद करना चाहिए।

दरअसल ऋण शोधन के लिए ऋण लेने का ठीक यही तरीका बाजार प्रणाली के सबसे बड़े समर्थक संयुक्त राज्य अमेरिका ने अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर पिछली चौथाई शताब्दी से अपना रखा है। संयुक्त राज्य अमेरिका दुनिया का अब तक का सबसे बड़ा ऋणी देश है। दो दशकों से अधिक समय से वह अपने द्वारा आयातित वस्तुओं और सेवाओं के बिल का जो निर्यात की उसकी कमाई से कहीं अधिक है भुगतान नहीं कर पा रहा है। इसीलिए वह अन्य ऋण उपकरणों के साथ अनेक सरकारी दस्तावेज, ट्रेजरी बिल

और बांड जारी करता आ रहा है। उनको मुख्यतया निर्यात अधिशेष वाले जर्मन, जापानी, तेल से परिपूर्ण खाड़ी देश और आजकल चीनी खरीद रहे हैं। मूलतः इस तरह अमेरिकियों को उधार दिए जाते हैं। यह प्रणाली तभी तक काम कर सकती है जब तक उधार देने वालों का अमेरिकी डालर पर भरोसा हो, तथा किसी अन्य सरकार द्वारा इसी पैमाने पर जारी की गई प्रतिभूतियों का कोई दूसरा बाजार न बने। डालर के ऊपर भरोसा इस तथ्य से भी बना है कि संयुक्त राज्य अमेरिका ही एकमात्र सैनिक महाशक्ति है, और यूरोपीय संघ, जापान और, बेशक, तेल से परिपूर्ण खाड़ी के देश उस पर सैनिक दृष्टि से निर्भर हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की आर्थिक शक्ति आज उसकी सुदृढ़ आर्थिक स्थिति नहीं, बल्कि उसकी सैनिक स्थिति के ऊपर कहीं अधिक निर्भर है।

इसी प्रकार राष्ट्रीय पैमाने पर पूर्ण रोजगार स्कीम का वित्त पोषण करने में भारतीय सरकार पूरी तरह सक्षम है। संयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना में भी वित्त पोषण का कहीं अधिक पुख्ता तरीका होगा क्योंकि विदेशी सरकारों और संस्थानों को, जिनका भारतीय जनता की भलाई से कोई सीधा वास्ता नहीं है, इस काम में शामिल नहीं किया जाएगा। अकस्मात् आने वाले वित्तीय संकट की संभावना जो किसी भी विदेशी विनिमय बाजार पर हावी हो सकती है दूर रखी जा सकती है क्योंकि भारतीय रुपया भारतीय जनता के लिए 'वैध मुद्रा' है। व्यापक अर्थ में भारतीय जोखिमधारी इस रणनीति में वित्त पोषक भी होंगे। भारतीय जोखिमधारियों की नजर में यह लगभग निश्चित है कि सरकार की आर्थिक विश्वसनीयता को केवल इसलिए खतरा पैदा नहीं होता कि वह अधिक उधार लेती है और उसके ऊपर अपनी ही जनता का कर्ज चढ़ जाता है। तब तक चिंता की कोई स्थिति नहीं आती जब तक पैसे को रोजगार सृजन पर सही तरह से खर्च किया जाता है, विकेंद्रीकृत आधारभूत ढांचे से युक्त संवृद्धि होती है और घरेलू बाजार का तेजी से विस्तार होता है। सरकार की विश्वसनीयता के लिए सार्वजनिक ऋण के आकार से कहीं अधिक रोजगार, संवृद्धि, भुगतान संतुलन आदि का महत्व होता है। परिणामस्वरूप जब तक उन उद्देश्यों को प्राप्त करने

के लिए पैसों को भलीभांति खर्च किया जाता है तब तक यह मानने का कोई कारण नहीं है कि सरकार को ब्याज की उत्तरोत्तर ऊंची दर पर कर्ज लेना होगा।

उपलब्ध साक्ष्य यह भी दिखलाता है कि अर्थव्यवस्था की उत्पादक क्षमता में वृद्धि की सच्ची मंशा वाले प्रत्यक्ष विदेशी निवेश भी निम्न मजदूरी या कर रियायतों की तुलना में कहीं अधिक घरेलू बाजार के आकार और आधारभूत ढांचे के स्तर से आकर्षित होते हैं। प्रत्यक्ष विदेशी निवेशों की इस कोटि को 'हरित क्षेत्र' निवेश भी कहा जाता है। ऐसा विभिन्न प्रकार के 'पोर्टफोलियो' निवेशों की तुलना में कहा जाता है जिनके कारण उत्पादक क्षमता को बिना प्रभावित किए उत्पादक परिसंपत्तियों का स्वामित्व अधिकतर बदल जाता है। बाजार से उधार लेकर सरकार द्वारा पूर्ण रोजगार की स्कीम की ओर बढ़ाने की रणनीतियों, और प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को आकर्षित करने की रणनीतियों का अभिसरण भी हो सकता है। यह सार्वजनिक वित्त की वर्तमान रूढ़िवादिता के विपरीत है। यह रूढ़िवादिता दावा कर सकती है कि भारतीय संदर्भ में सरकार बाजार से ऊंची ब्याज दर पर ही उधार ले सकती है। ब्याज की ऊंची दर ऋण की लागत को बढ़ा देगी और निजी निवेश को 'धकियाकर बाहर कर देगी।'

यह दलील अविश्वसनीय है। भारत में उसका कोई अनुभवाश्रित आधार नहीं है। विदेशी निवेश की तरह घरेलू निजी निवेश भी बाजार के विस्तार और आधारभूत ढांचे की सुविधाओं के प्रति अधिक संवेदनशील होता है। यदि पूर्ण रोजगार दोनों का विस्तार करने में सफल होता है तो घरेलू एवं विदेशी निवेश, दोनों ही धकियाकर बाहर निकाले जाने के बदले जोरदार ढंग से घुसने की कोशिश करेंगे। इसी प्रकार यह तर्क कि उधार के आधार पर सरकार के अपेक्षाकृत बड़े व्यय जो राजकोषीय घाटे की विभिन्न लेखा संबंधी परिभाषाओं के अंतर्गत आते हैं मुद्रास्फीति को जन्म देंगे भारतीय संदर्भ में अनुभवाश्रित आधारविहीन है। इसके पीछे महत्वपूर्ण कारण वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में वृद्धि के बजाय उनके उत्पादन के स्तर में बढ़ोत्तरी के रूप में वास्तविक अर्थव्यवस्था द्वारा सकारात्मक

प्रतिक्रिया का सामर्थ्य है। पिछले अध्याय में दिखलाया जा चुका है कि वास्तविक अर्थव्यवस्था में मौजूद अतिरिक्त क्षमता इसे संभव बनाती है। चूंकि वास्तविक अर्थव्यवस्था अधिक वस्तुएं एवं सेवाएं प्रदान कर काफी हद तक पूर्ण रोजगार स्कीम की चुनौतियों का मुकाबला करने में समर्थ लगती है इसलिए स्कीम का वित्तपोषण वित्तीय संस्थानों का इस उद्देश्य को पूरा करने की दृष्टि से पुनर्गठन का ही मुद्दा मुख्यतया बन जाता है।

रिजर्व बैंक से उधार लेने की सरकार की सुविधा के विस्तार द्वारा वित्तीय पुनर्गठन करने के मार्ग में एक अवरोध निःसंदेह सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र में वर्तमान शास्त्रीय रूढिवादिता है। कहना न होगा कि अर्थशास्त्र में शास्त्रीय रूढ़िवादिता अपने को तर्क के आधार पर नहीं बल्कि सशक्त निहित स्वार्थों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समर्थन द्वारा स्थापित करती है। किसी भी प्रकार जनता की सेवा करने की राज्य की अपेक्षाकृत आर्थिक भूमिका के प्रति वैचारिक वैमनस्य इन हितों के मार्गदर्शक दृष्टिकोण का सारतत्त्व रहा है। इसको अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन जैसे संयुक्त राज्य अमेरिकानीत धनी देशों की अनुदारवादी सरकारों द्वारा नियंत्रित संस्थानों द्वारा सीधे प्रचारित किया जाता है। सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र में शास्त्रीय रूढिवादिता जिसकी दलील है कि अकर्मण्य सरकारें ही सबसे बुद्धिमान होती हैं, इस विचार को अनेक आपत्तियों के रूप में अधिक स्पष्ट ढंग से व्यक्त करने की कोशिश करती है। आपत्तियों की यह सूची लंबी है। अपने अत्यंत स्पष्ट राजनीतिक रूप में वह व्यक्ति की स्वतंत्रता पर राज्य द्वारा अतिक्रमण पर आपत्ति करती है। अपने आर्थिक रूप में एक अकुशल सार्वजनिक क्षेत्र के अति विस्तार, भावी पीढ़ियों पर कर्ज का बोझ लादने, मुद्रास्फीति की आग जलाने, अथवा सार्वजनिक ऋण के असहनीय बोझ की ओर बढ़ने के प्रति आपत्ति करती है। ये आपत्तियां भारत में विभिन्न रूपों में सरकार द्वारा वित्तपोषित पूर्ण रोजगार स्कीम के विरुद्ध उठाई जाएंगीं। इसलिए इन आपत्तियों की संक्षेप में, अमूर्त तौर पर नहीं, बल्कि सुनिश्चित भारतीय संदर्भ में चर्चा की आवश्यकता है।

यदि हमारे पास गरीबों को देखने को आंखें और सुनने को कान हैं

तो हम तुरंत देखेंगे कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता के रूप में इन आपत्तियों की मुख्य राजनीतिक दिशा अप्रासंगिक है। भारत में हम विध्वंसकारी निर्धनता से घिरे हैं, जिसमें एक तिहाई जनसंख्या अवमानवीय स्थितियों में रह रही है। उसकी स्वतंत्रता के नाम पर उसे रोजी-रोटी से वंचित रखना बेतुका है। हो सकता है कि किसी अन्य देश के संदर्भ में यह बहस सार्थक हो। हमारे लिए यह बहस अप्रासंगिक है।

तर्क का दूसरा अनुक्रम दावा करता है कि निजी क्षेत्र अवश्यंभावी तौर पर सार्वजनिक क्षेत्र से अधिक कुशल होता है। आरंभ में ही यह तर्क यह मानकर गलती करता है कि सभी हालत में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र अवश्यंभावी रूप से परस्पर प्रतिद्वंद्वी होते हैं। यह तर्क सैद्धांतिक रूप से भी गलत है क्योंकि अर्थव्यवस्था में उत्पादन का स्तर निर्दिष्ट नहीं होता, बल्कि आमतौर से उच्चतर मांग के साथ बढ़ता है। अधिक सार्वजनिक निवेश मांग का विस्तार करता है, और इसलिए अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा बढ़ती है। उच्चतर उत्पादन और आय से अधिक बचत होती है जिससे निजी निवेश को धकियाकर बाहर किए बिना काफी हद तक सार्वजनिक निवेश का वित्तपोषण किया जा सकता है। इसके बदले सार्वजनिक निवेश के उच्चतर स्तर द्वारा सृजित अपेक्षाकृत बड़ा बाजार बहुधा निजी निवेश को प्रोत्साहित करता है। इस कारण हम भारतीय संदर्भ में अकसर ही पाते हैं कि सार्वजनिक निवेश निजी निवेश को 'धकियाकर बाहर करने' के बदले 'जोरदार ढंग से अंदर करेगा।'

इस मान्यता का कि सार्वजनिक और निजी क्षेत्र सदा परस्पर प्रतिद्वंद्वी होते हैं, स्वाभाविक रूप से यही अर्थ होगा कि सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा खाली की गई आर्थिक जमीन पर निजी क्षेत्र काबिज हो जाएगा। अनेक स्थितियों में ऐसा नहीं होगा क्योंकि सार्वजनिक वस्तुओं से जुड़ी सार्वजनिक क्षेत्र की अनेक गतिविधियों के फायदों का एक महत्वपूर्ण भाग निजी मुनाफे के रूप में नहीं प्राप्त किया जा सकता। उदाहरण के लिए, यदि कार्यशील जनसंख्या को बेहतर स्वास्थ्य, शिक्षा और प्रशिक्षण प्राप्त हो, अथवा भौतिक आधारभूत ढांचा बढ़िया हो तो अर्थव्यवस्था में अनेक निजी एवं सार्वजनिक उद्यम

साथ-साथ उससे होने वाले प्रभाव से लाभान्वित होंगे। किंतु जब कोई निजी उद्यम विशेष इनमें से कोई भी सेवाएं प्रदान करता है तब वह आमतौर से निजी मुनाफे के रूप में सारे फायदे प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। मान लें कि सार्वजनिक उद्यम के बदले किसी निजी उद्यम को जनता को बेहतर स्वास्थ्य या शिक्षा प्रदान करने के लिए आमंत्रित किया जाता है। अन्य उद्यम बेहतर स्वास्थ्य या शिक्षा वाले मजदूरों को काम पर रखने का फायदा लेंगे मगर इन सेवाओं को प्रदान करने की लागत में कोई हिस्सेदारी नहीं करेंगे। इस प्रकार के अनचाहे अथवा अनपेक्षित लाभ सार्वजनिक क्षेत्र की अनेक गतिविधियों, विशेषकर सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं जैसे पानी, बिजली, बुनियादी स्वास्थ्य सेवा, शिक्षा, शोध आदि में अंतर्भूत होते हैं। उनका संचालन निजी मुनाफे के उद्देश्य से संतोषप्रद ढंग से नहीं हो सकता। सार्वजनिक वस्तुओं से प्राप्त होने वाले अनपेक्षित लाभ को देखते हुए निजी क्षेत्र को पानी या बिजली जैसी आवश्यक सेवाओं का जिम्मा देना विशेष रूप से जटिल मामला है। ऐसा करने पर कोई भी निजी फर्म स्वाभाविक एकाधिकारी के रूप में आचरण करेगी और अनपेक्षित लाभ को समेटने की दृष्टि से आवश्यक सेवा के लिए काफी ऊंची कीमतें वसूलेगी। मगर गरीबों के लिए यह एक आपदा होगी। वे भुगतान करने में समर्थ नहीं होंगे, भले ही सेवा आवश्यक हो। यह उस हर राजनीतिक नेता के लिए भी आपदा होगी जिसे चुनाव में जनता के निर्णय का सामना करना होता है। यह याद रखने की बात है कि अधिकतर आर्थिक एवं सामाजिक आधारभूत ढांचे से इसी प्रकार अनपेक्षित लाभ प्राप्त होते हैं। इसीलिए बड़े बजटीय घाटे के जरिए वित्तपोषण के बदले हमारा आवश्यक आधारभूत ढांचा पाने की आस में विदेशी या घरेलू निजी निवेश के लिए अनिश्चितकाल तक प्रतीक्षा करना अथवा उसका प्रबंधन किसी बहुराष्ट्रीय कंपनी को हस्तांतरित करना बुरी अर्थनीति और बुद्धिहीन राजनीति है।

सार्वजनिक बनाम निजी क्षेत्र से जुड़ी बहस का एक लक्षण आर्थिक कल्पनाशीलता का अभाव है। जब कोई निगमित उद्यम निजी क्षेत्र में खराब कार्य निष्पादन करता है तब उसका प्रबंधन बदला जा सकता है (यद्यपि

भारतीय निगमित दुनिया में ऐसा विरले ही होता है), यहां तक कि शेयरों की बिक्री के माध्यम से स्वामित्व में आंशिक परिवर्तन किया जा सकता है। जब सार्वजनिक क्षेत्र का उद्यम असफल हो जाता है तब काफी विकल्प सामने होते हैं मगर उन्हें अपनाने की कल्पनाशीलता हममें नहीं होती। उदाहरण के लिए, सार्वजनिक उद्यम के प्रबंधन या स्वामित्व में मजदूरों की भागीदारी की विभिन्न स्कीमों पर विचार संभव है। जिम्मेदारी बांटने की व्यवस्थाएं अनेक संभावित फेर-बदल यानी विभिन्न अंशों में स्वामित्व के अधिकारों को इस्तेमाल के अधिकारों के साथ संयोजित कर प्राप्त की जा सकती हैं। निजी क्षेत्र के विपरीत सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के लिए ये संभावनाएं खुली हुई हैं। इन विकल्पों की पड़ताल किए बिना यह अद्‌भुत कल्पनाहीनता है कि इसे मात्र यह अथवा वह का द्विचर चुनाव का प्रश्न सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के बीच में बनाया जाय।

अनुभव के आधार पर सार्वजनिक क्षेत्र की हर विध्वंसात्मक विफलता या अकुशलता की तरह ही विफलताओं को निजी क्षेत्र में भी इंगित किया जा सकता है। एनरान प्रसंग को कौन भूल सकता है, जिसको निर्णय-निर्धारण स्तर पर वरिष्ठ अफसरों और राजनीतिक नेताओं की मिलीभगत द्वारा अंजाम दिया गया? इस देश में सार्वजनिक क्षेत्र की निकृष्टतम अकुशलता के साथ तुलना करने पर हम पाते हैं कि वह विफलता अतुलनीय है! इससे उन सब राजनीतिक नेताओं और अफसरों की आंखें खुल जानी चाहिए जो अब भी दावा करते हैं कि विदेशी सलाहकार और विदेशी निवेश अवश्यंभावी रूप से बेहतर प्रबंधन और प्रौद्योगिकी लाते हैं।

भारत में इस क्षेत्र में बहुत थोड़े सुव्यवस्थित अनुभवजन्य अध्ययन उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ मुद्दों के ताजा सांख्यिकीय विश्लेषण में लेखक राम मोहन ने पाया है कि 1989-2000 के अपेक्षाकृत लंबे दौर में निजी क्षेत्र का कुल मिलाकर कार्य निष्पादन कुशलता की विभिन्न वित्तीय एवं भौतिक कसौटियों की दृष्टि से बेहतर रहा। किंतु दिलचस्प बात है कि "उच्च उदारीकरण" के हाल के दौर (1995-2000) में उन्हें नाममात्र साक्ष्य मिला जिसके आधार पर कहा जाय कि निजी क्षेत्र का कार्य निष्पादन बेहतर रहा।

प्रसंगवश, दलील के क्रम में इस आम धारणा को दूर करने के लिए साक्ष्य प्रस्तुत किया गया है कि भारत की तुलना में चीन ने बड़े साहस पूर्वक अपेक्षाकृत तेज गति से निजीकरण किया है।

आंखों पर बिना वैचारिक पट्टी बांधे देखें तो निजीकरण के विषय में मूल मुद्दा सरल है। निजीकरण जब अनेक आवश्यक सहायक स्थितियां मौजूद हों तो उसी तरह कुशलता पूर्वक काम कर सकता है जैसे सार्वजनिक क्षेत्र की कतिपय स्थितियों में कर सकता है। इन सब स्थितियों में समान कारक सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र के कार्यकलाप को विनियमित करने का सामर्थ्य है। साथ ही निजीकरण की संपूर्ण प्रक्रिया सूचना के अधिकार के साथ पारदर्शी तरीके से हो, और सूचना के आधार पर उत्तरदायित्व और जवाबदेही तय हो। आइए, एनरान के उदाहरण की ओर लौटें। इस सिलसिले में भारत सरकार द्वारा अब तक यह उत्तरदायित्व तय नहीं किया गया है कि इस प्रकार का पक्षपातपूर्ण निर्णय कैसे लिया गया। इस साधारण तथ्य को दरकिनार कर हर चीज को सार्वजनिक बनाम निजी क्षेत्र का विवाद बनाना जानबूझकर पलायनवाद है।

घाटे की वित्तव्यवस्था के प्रति एक अन्य आपत्ति यह है कि वह भावी पीढ़ियों को कर्जदार बना देती है। यह दलील वर्तमान भारतीय परिस्थिति में एक क्रूर परिहास लगती है। हमारे बच्चे यानी भारतीयों की ठीक अगली पीढ़ी कुपोषित और कुशिक्षित है। देश में दसियों लाख बाल मजदूर हैं जिनका कोई भविष्य नहीं है; और दसियों लाख बच्चे कुपोषण से अंधे और अपंग हो गए हैं। उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार लगभग आधे भारतीय बच्चे अर्धपोषण से पीड़ित हैं। बीस प्रतिशत ग्रामीण बच्चे भयंकर अर्धपोषण के शिकार हैं। नवीनतम मानव विकास रिपोर्ट (2005) ध्यान दिलाती है कि पिछले दशक के दौरान उच्च संवृद्धि के बावजूद गरीब बच्चों के पोषण के स्तर में 'शायद ही सुधार हुआ'। बाल मृत्यु दर में सुधार की दर धीमी पड़ गई और प्रत्येक ग्यारह में से एक बच्चा पांच साल की उम्र के पहले ही साधारणतम स्वास्थ्य संबंधी देखभाल के अभाव में मर जाता है। ऐसा सुदूर देहाती इलाकों में नहीं, बल्कि भारत के कुछ दक्षिणी नगरों में होता है जो अपने अत्यंत चर्चित सूचना

प्रौद्योगिकी की धूम पर गर्व करते हैं। चार में से एक लड़की और दस में से एक लड़का अब भी स्कूल नहीं जाता जिससे पीढ़ी-दर-पीढ़ी गहरी जड़ों वाली लैंगिक विषमताएं बरकरार रहती हैं। जब हम अपने बच्चों यानी अपनी ठीक अगली पीढ़ी की देखभाल नहीं कर सकते तब शास्त्रीय दृष्टि से सुदूर भावी पीढ़ियों के प्रति सार्वजनिक ऋण की बात करना बिल्कुल बकवास लगता है। भारत के लिए सर्वोपरि तात्कालिक प्रश्न सीधा है। क्या अपेक्षाकृत बड़ा बजट घाटा वर्तमान पीढ़ी और हमारे बच्चों के जीवन-यापन की दशाओं में सुधार लाएगा? जब हम आज की सर्वोपरि समस्या से निपट लेंगे तब अब तक नहीं जन्मी भावी पीढ़ियों के बारे में फिक्र करेंगे।

भावी पीढ़ियों के संबंध में तर्क भी विश्लेषणात्मक दृष्टि से दोषपूर्ण है। यह एक परिवार विशेष और संपूर्ण राष्ट्र के भ्रामक सादृश्य से निकलता है। यह तर्क वाक्य व्यष्टिगत अर्थशास्त्रीय दृष्टि से ऊपरी तौर पर सही लगता है परंतु समष्टिगत आर्थिक दृष्टि से भ्रामक है। पहले बतलाया जा चुका है कि अनेक क्षेत्रों में भारतीय अर्थव्यवस्था में अतिरिक्त क्षमता है। अपेक्षाकृत बड़े सरकारी बजट घाटे से वित्तपोषित निवेश का उच्चतर स्तर वर्तमान क्षमताओं के बेहतर इस्तेमाल द्वारा उत्पाद और आय के स्तर को शीघ्र बढ़ा देगा। अर्थव्यवस्था की बचत में वृद्धि अल्पकाल में उत्पादन की बढ़ोत्तरी द्वारा होगी, और वर्तमान पीढ़ी द्वारा लिए गए ऋण का भुगतान उसी की उच्चतर बचत द्वारा होगा। इस हद तक कोई हस्तांतरण पीढ़ियों के बीच नहीं होगा।

यह डर कि बजट घाटा मुद्रास्फीति को जन्म देगा, अनुभव के आधार पर भारत में निराधार रहा है। कभी-कभी इसी तरह का भय व्यक्त किया जाता है कि पूर्ण रोजगार नीति श्रम बाजार में ऐसे सख्त हालात पैदा कर देगी कि ऊंची मजदूरी के दावों से मुद्रास्फीति आ जाएगी। वर्तमान संदर्भ में यह बेतुकी बात है। वह नियत न्यूनतम कानूनी मजदूरी जिस पर सारे भारत में वयस्कों को रोजगार का अधिकार होगा गरीबों का 'आत्मचयन' करेगी क्योंकि वह सामान्यतया दी जाने वाली मजदूरी की दरों से कम है। 'न्यूनतम' मजदूरी होने के कारण वह ऐसे लोगों को आकर्षित नहीं करेगी

जो ऊंची मजदूरी पर कार्यरत हैं, और न ही उच्चतर मजदूरी की मांग करने के लिए उनकी मोल-भाव करने की शक्ति को सुदृढ़ करेगी। यह स्कीम शेष श्रम बाजार पर नाममात्र प्रत्यक्ष असर डालेगी क्योंकि वस्तुतः एक खंडित श्रम बाजार का निर्माण करेगी। केवल उन्हीं लोगों की मोल-भाव करने की ताकत बढ़ेगी जिन्हें अत्यंत कम मजदूरी दी जाती है। इस कोटि में महिलाएं आएंगीं जिनके साथ लिंग के आधार पर भेदभाव किया जाता है, और दलित आएंगे जिनके खिलाफ ऊंची जाति वाले एक जुट होकर उनकी मजदूरी को कम करते हैं। संक्षेप में, पूर्ण रोजगार स्कीम का यह एक उद्देश्य है। यह उन्हें अनुचित भेदभाव के विरुद्ध लड़ने में मदद करेगी और उन्हें प्रतिष्ठा देगी। आम श्रम बाजार में तेजी आने से मुद्रास्फीति के खतरे का डर अनुचित है क्योंकि यह भय इस स्कीम द्वारा सृजित पूर्ण रोजगार को आम श्रम बाजार में सख्ती के कारण उत्पन्न पूर्ण रोजगार समझ लेता है।

भारत में एक बड़े राजकोषीय घाटे के विरुद्ध उठाई जाने वाली आपत्ति ऋण के शोधन की समस्या से जुड़ी है। तत्काल (वर्ष 2004 में), ब्याज का भुगतान और सार्वजनिक ऋण की संबद्ध शोधन लागत 13 खरब रुपए यानी संघीय सरकार के (गैर योजना) व्यय का लगभग 40 प्रतिशत है। आए दिन यह आशंका व्यक्त की जाती है कि अगर हम अपना सार्वजनिक व्यय बढ़ाते जाएं तो वह जल्द ही सरकार के संपूर्ण व्यय को लील लेगा। इसलिए सरकार कब तक राजकोषीय घाटे को बढ़ाती रहेगी?

यह दो कारणों से गलत ढंग से रखा गया प्रश्न है। पहला, यदि सरकार को रिजर्व बैंक से सीधे उधार लेने की अनुमति दी जाती है जिसका तात्पर्य होता 'मुद्रा की छपाई' तो शोधन का बोझ काफी होता। इसलिए हमें बदले में यह सवाल पूछना चाहिए : राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंधन अधिनियम से चिपके रहकर अपनी राष्ट्रीय सरकार के हाथ बांधकर व्यापक निर्धनता और बेरोजगारी के विरुद्ध कार्रवाई करने से रोकना कहां तक बुद्धिमानी है? यह किसका हित साधता है? दूसरा, कोई भी सरकार न तो व्यक्ति जैसी है और न ही एक बड़े निगम जैसी। जब तक कोई सरकार अपने आर्थिक कार्य निष्पादन के कारण लोगों की नजर में विश्वसनीय रहती

है तब तक वह अपनी प्रतिभूतियों पर उच्चतर ब्याज दरें दिए बिना अपने ऋण के शोधन के लिए अतिरिक्त प्रतिभूतियां जारी कर सकती है। यह मानने का कोई आधार नहीं है कि किसी सरकार के कार्य निष्पादन पर फैसला केवल या यहां तक कि मूलतः उसके सार्वजनिक ऋण के आधार पर सुनाया जाता है। अधिकतर लोग सरकार की विश्वसनीयता अनेक अन्य कसौटियों जैसे राजनीतिक स्थिरता, बेरोजगारी, सामाजिक गतिशीलता के लिए अवसर, संवृद्धि, भुगतान संतुलन की स्थिति आदि के आधार पर परखते हैं। यह विचार कि सरकार का सार्वजनिक ऋण और राजकोषीय घाटे का स्तर ही सरकार की आर्थिक नीति को विश्वसनीय बनाते हैं राज्य की आर्थिक भूमिका को न्यूनतम बनाने के लिए बड़ी चालाकी से आयोजित अभियान से अधिक कुछ भी नहीं है। यहां अर्थशास्त्र एक ऐसी विचारधारा की सेवा में रत है जो मूलतः आर्थिक दृष्टि से अति सक्रिय सरकार के विरुद्ध है। यह तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है कि इस विचारधारा का प्रचार अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक अपने सारे साधनों और सारी शक्ति लगाकर कर रहे हैं। कहीं अधिक दयनीय यह तथ्य है कि सरकार, शिक्षा जगत और मीडिया में बैठे हमारे आर्थिक पंडित आंखें मूंदकर इसे वेदवाक्य के रूप में ग्रहण करते हैं।

यह विचार की राजकोषीय घाटा खतरनाक है बहुधा गणित के चोले में लपेटकर शास्त्रीय लेखन में प्रस्तुत किया जाता है। यह 'विधितंत्रीय व्यक्तिवाद' के ढांचे का इस्तेमाल करता है। यह विधितंत्र यह भूल जाना सुविधाजनक पाता है कि समाज में अनेक प्रकार के हित होते हैं जो कभी-कभी परस्पर विरोधी भी होते हैं। इसके बदले वह दिखलाने का स्वांग भरता है कि समाज समरूप है। समरूप समाज का अर्थ है कि एक 'प्रातिनिधिक व्यक्ति' संपूर्ण समाज के मुख्तार के रूप में काम कर सकता है। वह एक बड़े उद्योगपति, एक बेरोजगार श्रमिक, एक सत्तारूढ़ राजनीतिक नेता जो अगला चुनाव जीतने के लिए बेताब है, एक गरीब ग्रामीण महिला जो घंटों बेगार करने के बाद भी केवल तिरस्कार ही पाती है, के साथ-साथ, बिना पर्याप्त पोषण रातोदिन काम करने वाले मजदूर का भी प्रतिनिधित्व करता

है। मान्यता के अनुसार यह रहस्यमय प्रातिनिधिक व्यक्ति भविष्य संबंधी पूर्ण दूरदर्शिता और अडिग विवेकशीलता से युक्त होता है। भविष्य में क्या होने वाला है इसकी पूरी जानकारी से लैस वह महत्तम प्रयास करता है कि सर्वोत्तम संभव चयन करे। और, सांस रोककर सुनिए, इस माडल के आधार पर प्राप्त निष्कर्ष बतलाते हैं कि बाजार अर्थव्यवस्था कैसे काम करती है! इस विधि द्वारा मान्यताएं इतनी निश्चित होती हैं कि किए गए चयन हमेशा इष्टतम होते हैं। इसीलिए हमें बतलाया जाता है कि बाजार अर्थव्यवस्था एक इष्टतम स्थिति की ओर ले जाती है। इस सिद्धांत का उद्देश्य यह समझना नहीं होता है कि बाजार प्रणाली कैसे काम करती है। उसका लक्ष्य यह प्रचार करना होता है कि मुक्त बाजार प्रणाली सर्वोत्तम विकल्प है; निःसंदेह बाजार इतना बढ़िया ढंग से काम करता है कि राज्य द्वारा कोई भी आर्थिक हस्तक्षेप विपरीत परिणामदायी होता है। सत्ता में बैठे 'व्यावहारिक' व्यक्ति, राजनीतिक नेता और उनके सलाहकार तथा मीडिया से जुड़े व्यक्ति इस विचार का प्रचार कभी-कभी अपने स्वार्थवश करते हैं किंतु कभी-कभी इसलिए भी करते हैं कि वे इस विचार को बनाए रखने के लिए आवश्यक बेतुकी मान्यताओं से बेखबर हैं।

इस प्रकार के विचार को मानने से हमारे गरीब देश में सार्वजनिक कार्रवाई की दृष्टि से अपने ऊपर स्वयं लकवा लाद लिया जाता है। कहना न होगा कि यह दलील सतही तौर पर रुचिकर और सहज बुद्धि युक्त लगती है क्योंकि वह सरकार को व्यक्ति जैसा समझती है। हमारी सहज बुद्धि कहती है कि किसी भी व्यक्ति द्वारा अत्यधिक ऋण लेना मूर्खता है। इसीलिए यह दावा किया जाता है कि सरकार को भी अत्यधिक ऋण नहीं लेना चाहिए। 'सहज बुद्धि' के नाम पर यह कहकर एक स्पष्ट सांस्थानिक विशेषता, यथा राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंधन अधिनियम में समुचित संशोधन द्वारा रिजर्व बैंक के जरिए सरकार का मुद्रा 'छापने' के सामर्थ्य, को दरकिनार कर दिया जाता है। यह इस प्रश्न को नजरअंदाज कर देता है कि कौन-सा कारक सरकार की आर्थिक विश्वसनीयता को निर्धारित करता है। क्या संघ सरकार भारतीय जनता के बीच अपनी विश्वसनीयता वस्तुतः केवल इसलिए

खो देगी कि वह तब भी अधिक ऋण लेती है जब आर्थिक कार्य निष्पादन लगातार बेहतर हो रहा होता है?

घरेलू सार्वजनिक ऋण को थामे रखने का केंद्रीय मुद्दा प्रस्तुत करते समय आमतौर से इन सब मुद्दों को दरकिनार कर दिया जाता है जो सरकार को व्यक्ति से अलग करते हैं। ऐसा करने पर समस्या अपेक्षाकृत सरल हो जाती है। मान लें कि सरकार एक व्यक्ति की तरह ही ऋण लेती और निवेश करती है। अधिक उधार लेकर निवेश के परिणामस्वरूप आय (सकल घरेलू उत्पाद) में वृद्धि होगी, मगर साथ ही ऋण शोधन का बोझ भी बढ़ेगा। इस प्रकार संवृद्धि की दर और ब्याज के भुगतान के जरिए ऋण शोधन के बीच दौड़ शुरू हो जाएगी। यह दिखलाना आसान है कि जब तक राष्ट्रीय आय की संवृद्धि दर ब्याज की दर से अधिक नहीं होती तब तक आय के प्रति ऋण का अनुपात अपरिमित रूप से बढ़ता ही जाएगा जिससे बढ़ते हुए ऋण का शोधन अंततः असंभव हो जाएगा। इसलिए निर्णायक शर्त है कि सकल घरेलू उत्पाद की संवृद्धि दर अवश्यंभावी रूप से ब्याज की दर से अधिक हो जिससे ऋण आगे आने वाले समय के दौरान सहनीय रहे। यहां यह जोड़ना चाहिए कि यदि विदेशी ऋण का शोधन आयात की तुलना में अधिक निर्यात के द्वारा अर्जित विदेशी विनिमय के द्वारा होता है, इसलिए कहीं अधिक सख्त शर्तों को पूरा करना होता है।

इस सरलीकृत विश्लेषण में सकल घरेलू उत्पाद की संवृद्धि दर को ब्याज की उस दर से अधिक होना होगा जिस पर सरकार उधार लेती है। संवृद्धि दर के निर्धारक अनेक हैं। फिर भी, आर्थिक विश्लेषण संवृद्धि दर को निवेश की उत्पादकता, और सकल घरेलू उत्पाद में निवेश के हिस्से के ऊपर निर्भर मानता है। इस मानक विचार की एक गंभीर खामी निवेश की उत्पादकता को एक प्रदत्त प्रौद्योगिकीय तथ्य के रूप में लेना है। अगर अतिरिक्त क्षमता और बेरोजगारी मौजूद हो तो अधिक निवेश एक अपेक्षाकृत बड़ा घरेलू बाजार बनाकर क्षमता के इस्तेमाल को बढ़ा सकता है, और इस प्रकार निवेश की उत्पादकता में वृद्धि कर सकता है। उदाहरण के लिए, यदि जूते का कोई कारखाना तीन करोड़ रुपए की लागत से लगाया जाता

है; औसत वार्षिक उत्पादन एक करोड़ रुपए का है। इसका अर्थ है कि इस निवेश विशेष की उत्पादकता 1 : 3 है। यह भी मान लें कि पूर्ण रोजगार कार्यक्रम जूतों के लिए अधिक मांग पैदा करता है तथा कारखाना इस मांग को पूरा करने के लिए अपना उत्पादन दुगुना कर देता है। इससे उस निवेश की उत्पादकता 2 : 3 हो जाएगी। आमतौर से यह मानकर चलना गलत होगा कि प्रौद्योगिक रूप से निर्दिष्ट निवेश की 1:3 उत्पादकता मांग की स्थिति द्वारा प्रभावित नहीं होगी। भारत के अनेक उद्योगों में निवेश की उत्पादकता पूर्ण रोजगार कार्यक्रम के तहत बाजार के विस्तार द्वारा क्षमता के अपेक्षाकृत अधिक इस्तेमाल के फलस्वरूप इसी तरह बढ़ सकती है। मानक सिद्धांत इस सुस्पष्ट बिंदु को नहीं देख पाता क्योंकि वह यह मानकर चलता है कि अर्थव्यवस्था में हमेशा पर्याप्त मांग रहती है जो सभी संसाधनों के पूर्ण इस्तेमाल को सुनिश्चित कर सके। भारतीय संदर्भ में यह तर्कसंगत मान्यता नहीं है। हमें अपने आप को यह भी याद दिलाने की आवश्यकता है कि किस प्रकार निवेश का वितरण विभिन्न क्षेत्रों के बीच होता है। निवेश के लिए विकेंद्रीकृत स्कीमें, काफी सारे बेरोजगार श्रम का उपयोग कर, पूरी संभावना है कि निवेश की कुल उत्पादकता बढ़ा दें। पंचायत के स्तर पर थोड़े से साधारण उपकरण से युक्त काम पर लगाए गए ढेर सारे मजदूर प्रति उपकरण प्रतीकात्मक ढंग से उत्पादन यानी निवेश की उत्पादकता को बढ़ा देंगे। फिर भी यह सब कुछ तुलनात्मक दृष्टि से निम्न श्रम उत्पादकता की लागत पर प्राप्त किया जाएगा। याद रखना चाहिए कि इन स्कीमों में यदि श्रम उत्पादकता निम्न है तो भी बेरोजगार श्रम के रूप में इन मजदूरों की उत्पादकता लगभग शून्य होगी।

वस्तुतः संवृद्धि को निवेश की गई पूंजी की या काम पर लगाए गए श्रम की उत्पादकता के रूप में देखा जा सकता है। पूर्वोक्त संवृद्धि सकल घरेलू उत्पाद में निवेश के भाग और जैसा कि हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं, निवेश की उत्पादकता के रूप में दिखलाता है। यह परंपरागत सूत्र भारतीय संदर्भ में सहनीय ऋण से युक्त पूर्ण रोजगार के विश्लेषण के लिए बहुत

उपयोगी नहीं है। एक अधिक उपयोगी तरीका सकल घरेलू उत्पाद की संवृद्धि को रोजगार के रूप में देखना है। रोजगार का स्तर और श्रम उत्पादकता की संवृद्धि यानी प्रति रोजगार प्राप्त मजदूर सकल घरेलू उत्पाद एक साथ मिलकर सकल घरेलू उत्पाद के बराबर होते हैं। यदि रोजगार की वृद्धि दर को एक प्रतिशत मान लें कि पूर्ण रोजगार नीति के कार्यान्वयन द्वारा बढ़ाया जाता है तो सकल घरेलू उत्पादन की संवृद्धि दर भी बढ़ेगी बशर्ते श्रम उत्पादकता में एक प्रतिशत से अधिक की गिरावट न हो। संक्षेप में, जब तक हम श्रम उत्पादकता में बिना किसी भारी गिरावट के रोजगार की वृद्धि की दर को बढ़ाने में समर्थ हैं तब तक अर्थव्यवस्था तेजी से संवृद्धि करेगी। वह अपेक्षाकृत ऊंची ब्याज दर पर ऋण को वहन करेगी। हम अपना ध्यान इस समस्या की ओर कहीं अधिक लाभदायी रूप में दे सकते हैं कि किस प्रकार सार्वजनिक वित्त पर अनुचित जोर देने के बदले श्रम उत्पादकता की वृद्धि दर में गिरावट आने दिए बिना रोजगार की वृद्धि की दर को बढ़ा सकते हैं। संदेहास्पद मान्यताओं पर आधारित राजकोषीय घाटे के अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा दिए गए किसी रहस्यमय आंकड़े का पूर्वाग्रह वास्तविक मुद्दों से केवल ध्यान हटाता है।

एक परिमित अनुमान के अनुसार काम पर लगाई जाने योग्य श्रमशक्ति (15-59 वर्ष का आयु वर्ग) का 7 से 8 प्रतिशत बेरोजगार (उपलब्ध सांख्यिकीय मापदंड उसकी 'वर्तमान दैनिक स्थिति' के रूप में है) है। इस आधार पर तीन करोड़ 36 लाख बेरोजगार लोग हैं। साठ रुपए की दैनिक न्यूनतम मजदूरी दर पर 300 दिन प्रति वर्ष के हिसाब से कुल वार्षिक मजदूरी बिल लगभग छह खरब 10 करोड़ रुपए होता है। यह हमारे सकल घरेलू उत्पाद का 2.4 प्रतिशत और कुल संघ एवं राज्य बजट का लगभग 7 से 8 प्रतिशत होता है। अन्य विभिन्न प्रशासनिक एवं भौतिक लागतों को जोड़ें तो पूर्ण रोजगार कार्यक्रम को चालू करने पर सकल घरेलू उत्पाद का संभवतः तीन से चार प्रतिशत लगेगा।

उपर्युक्त गणनाएं सूचकात्मक मात्र हैं, और उनका उद्देश्य संबद्ध

परिमाण का आभास देना भर है। अंकगणित के स्तर पर समस्या सरल दिखती है। यदि सकल घरेलू उत्पाद की संवृद्धि छह से आठ प्रतिशत हो, और इस संवृद्धि का आधा रोजगार कार्यक्रम को चलाने पर लगेगा, और इस प्रकार हिसाब ठीक बैठता है। इस कार्यक्रम को संभाव्य माना जाय या नहीं यह इस बात पर निर्भर करता है कि आप आशावादी हैं या निराशावादी। लोक प्रसिद्ध निराशावादी 6-7 प्रतिशत संवृद्धि रूपी ग्लास को देखेगा और उसे पूर्ण रोजगार कार्यक्रम के फलस्वरूप आधा खाली पाएगा। लोक प्रसिद्ध आशावादी उस ग्लास को देखकर उसे आधा भरा हुआ पाएगा। किंतु इस तरह का अंकगणित हमें बहुत दूर नहीं ले जा सकेगा बल्कि यह दिग्भ्रमित कर सकता है।

अगर हम यह मान भी लें कि करों की बेहतर वसूली होगी और प्रतिभूतियों की खरीद-फरोख्त पर टर्न ओवर टैक्स (हस्तांतरण कर) जैसे कुछ अधिक कर प्रस्तावों का अधिक गंभीरता से कार्यान्वयन होगा, तो भी सकल घरेलू उत्पाद में कर का हमारा अनुपात 15 प्रतिशत के वर्तमान से बढ़कर 20 प्रतिशत के अधिकतम स्तर पर नहीं पहुंच पाएगा। इसका अर्थ है कि 8 प्रतिशत संवृद्धि पर केवल लगभग 1.6 प्रतिशत सकल घरेलू उत्पाद ही सरकार द्वारा अतिरिक्त कर के रूप में जमा किया जा सकता है, और स्पष्टतया यह पूर्ण रोजगार कार्यक्रम की जरुरतों के लिए नाकाफी होगा।

गणना इस मुख्य बिंदु को सामने लाती है। यदि हम रूढ़िवादी सार्वजनिक वित्त की इस लक्षण समष्टि में न फंसें कि "सरकार यह नहीं कर सकती" तो इस आकार के कार्यक्रम के वित्तपोषण का प्रश्न भिन्न प्रकार से उठाना होगा। उसे उठाने में कल्पनाशीलता की आवश्यकता है। हमें "संवृद्धि पहले, पूर्ण रोजगार बाद में" के नजरिए से नहीं सोचना चाहिए। यह भारतीय संदर्भ में सफल नहीं होगा, भले ही संवृद्धि का वित्तपोषण किसी भी तरह हो। हमें रणनीति को उलट कर "रोजगार पहले और संवृद्धि उसका परिणाम" करना होगा। इस परिप्रेक्ष्य में उत्पादक पूर्ण रोजगार के कार्यक्रम के चरणों का, हमारे पिछले तर्कों की रोशनी में, सारांश यों प्रस्तुत किया जा सकता है :

(i) इसका वित्तपोषण श्रेयस्कर होगा कि रिजर्व बैंक से उधार लेकर, और निष्फल राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंधन अधिनियम को संशोधित कर किया जाय।

(ii) यदि रिजर्व बैंक से उधार एक अलग खाते में केवल ग्राम एवं नगर पंचायतों द्वारा रोजगार कार्यक्रम के वित्तपोषण के लिए हो तो संशोधन न्यायसंगत होगा।

(iii) यह भारतीय संविधान के 73 वें संशोधन के अनुकूल भी उस हद तक बैठता है जिस हद तक वह शासन में तृस्तरीय-स्वायत्तता प्रणाली के लिए आदेश देता है। अगर केंद्र और राज्यों के लिए राजकोषीय स्वायत्तता के स्पष्ट रूप से परिभाषित क्षेत्र हो सकते हैं तो ऐसा कोई वैध कारण नहीं है कि पंचायतों के निर्वाचित प्रतिनिधियों को भी समान अधिकार न हों। पूर्ण रोजगार कार्यक्रम की सफलता के लिए विकेंद्रीकरण अनिवार्य है, और विकेंद्रीकरण तभी आरंभ हो सकता है जब पंचायतों को केंद्र या राज्य सरकार के सत्ताविहीन और राजकोषीय स्वायत्तता रहित मात्र कार्यान्वयन एजेंट के रूप में नहीं लिया जाय।

(iv) विकेंद्रीकरण के जरिए पूर्ण रोजगार सुनिश्चित करने का दूसरा स्तंभ अपेक्षा करता है कि सभी स्तरों—केंद्र, राज्यों और पंचायतों—पर पारदर्शिता हो। सूचना का अधिकार इस दिशा में एक शुरुआत कर सकता है। आए दिन यह दलील सुनने में आती है कि पंचायतों के ऊपर समाज की विभिन्न विशेष सुविधा संपन्न श्रेणियों का दबदबा है। यह निःसंदेह सही है। यह भी सही है कि उनमें अनेक भ्रष्ट हैं। किंतु यह तर्क निराधार है क्योंकि यह कथन केंद्र एवं राज्य सरकारों पर भी समान रूप से लागू होता है। जनतांत्रिक कार्यकलाप का आधार वाक्य है कि हम निर्वाचित प्रतिनिधियों को नीति निर्धारण शक्ति देने से इंकार न करें मगर उन्हें अपने कार्यों के लिए जिम्मेदार ठहराएं।

(v) अपने राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन में जवाबदेही लाने के लिए सब स्तरों पर सूचना का अधिकार एक आवश्यक शर्त है। एनरान जैसी घोर निष्फलता से जुड़े निर्णयों की तरह केंद्र एवं राज्य के स्तर पर अनेक निर्णय पारदर्शिता रहित होते हैं। जब जिम्मेदारी निर्धारण के जरिए पारदर्शिता और जवाबदेही सभी स्तरों पर लागू की जाएगी तभी स्थिति में सुधार शुरू हो सकेगा।

(vi) पारदर्शिता और जवाबदेही सुनिश्चित करने के क्रम में सममिति के एक सिद्धांत का पालन करना होगा। यदि केंद्र या राज्य पंचायतों को जवाबदेह ठहराना चाहता है किंतु खुद जवाबदेह नहीं होना चाहता तो यह सत्ता का सममिति रहित उपयोग होगा। यह अनुचित और अस्वीकार्य होगा। पूर्ण रोजगार की स्कीम के सिलसिले में इसका अर्थ यह होगा कि न केंद्र और न ही राज्य को तब तक इन निधियों को रोकने का अधिकार होगा जब तक उनकी निधि का इस्तेमाल कैसे हो रहा है इसको लेकर पारदर्शिता समान मात्रा में न हो। इस तर्कसंगत मान्यता को लेकर चलें कि अकुशलता, भ्रष्टाचार और निहित स्वार्थ सरकार के सभी स्तरों पर समान रूप में हैं तो हमें न केंद्र को और न ही राज्य को पंचायतों के ऊपर देखरेख का अधिकार देना चाहिए। यह विशेष रूप से पूर्ण रोजगार की स्कीम से जुड़ी परियोजनाओं के लिए नितांत आवश्यक है। अनेक पंचायतें असफल हो जाएंगी मगर कुछ सफल भी होंगी। संघ और राज्य सरकारों की तुलना में उनकी बड़ी संख्या उनका लाभप्रद पहलू है जिससे प्रयोग किया जा सकता है।

(vii) पंचायतों के काम के विनियमन और देखरेख के लिए अलग प्रकार की संरचना अपेक्षित है। पंचायतों के निर्वाचित प्रतिनिधियों को आए दिन स्थानीय समुदाय का बारंबार सामना करना पड़ेगा। यदि पंचायत के सारे बजट को कानूनन सार्वजनिक निरीक्षण के लिए खुला रखा जाय तो इससे निरंतर जवाबदेही के लिए

सहायक स्थितियां पैदा हो सकती हैं। यह चीज राज्य और केंद्रीय सरकार के सिलसिले में उनके अपेक्षाकृत बड़े प्रशासन के कारण उत्तरोत्तर कठिन होती है मगर पंचायत के स्तर पर यह सहज ही संभव है। यह किसी रोजगार परियोजना से जुड़ी सूचना को आसानी से उपलब्ध करा देगी। इस सूचना में रोजगार दिए जाने वाले लोगों के नाम और पते, भुगतान की गई मजदूरी दर, संपादित कार्य के दिनों की संख्या, और परियोजना के लिए मंजूर रकम की तुलना में खर्च की गई राशि होगी। कानूनन यह सूचना सार्वजनिक रूप से नियमित दर्शायी जा सकती है। यह निधियों को पाने की पूर्वशर्त हो सकती है।

(viii) यह सुनिश्चित करने के लिए कि परियोजना पर पैसा ठीक तरह से खर्च किया जा रहा है भौतिक प्रगति पर निगाह रखनी होगी। पूर्वोल्लिखित कारणों से यह कार्य न केंद्रीय और न ही राज्य स्तर के राजनीतिक नेताओं तथा अफसरों का होना चाहिए। इसके बदले देखरेख के तंत्र को तीन स्तरों पर आत्मचयन और आत्मनिरीक्षण पर निर्भर रहना चाहिए। पहला, न्यूनतम मजदूरी पर काम करने के लिए आगे आने वाले सभी वयस्कों को रोजगार दिया जाना चाहिए। इस निम्न मजदूरी वाले रोजगार के लिए अधिकतर गरीब ही अपने को प्रस्तुत करेंगे। दूसरा, चुनी गई परियोजना को यथासंभव सीधे तौर पर काम पर लगने वालों को लाभान्वित करना चाहिए। यह आत्मनिरीक्षण के लिए एक आवश्यक स्थिति बनाएगा। चूंकि रोजगार अधिकतर स्थानीय क्षेत्र के लोगों को दिया जाएगा इसलिए परियोजना के अंतर्गत रोजगार प्राप्त लोगों को परियोजना के चयन के लिए मताधिकार भी होगा। अंतिम, पंचायतों को कहा जाएगा कि उनके द्वारा कार्य में प्रगति के आधार पर ही आगामी परियोजना के लिए धनराशि मिलेगी। आरंभ में अल्पकालिक लाभ देने वाली

परियोजनाएं और उनका तेजी से समापन प्रगति रिपोर्ट बनाने में निर्णायक होंगे।

(ix) अंत में, किसी राष्ट्रीयकृत बैंक की निकटतम शाखा के जरिए पंचायतों को पैसे दिए जा सकते हैं। जब बैंक और पंचायत के अनुसार कोई परियोजना पूरी हो जाती है तब वह पंचायत की परिसंपत्ति के रूप में गिनी जाएगी और पंचायत उसके आधार पर आगे ऋण ले सकेगी। परियोजना के समापन को बैंक के एक या अधिक मनमाने ढंग से चुने गए पदाधिकारी (जो स्थानीय शाखा से नहीं जुड़े होंगे) प्रमाणित करेंगे। साथ ही पंचायत के निर्वाचित प्रतिनिधि भी इसे प्रमाणित करें। यद्यपि विभिन्न परियोजनाओं की भौतिक प्रगति पर यह एक अंकुश होगा, दूसरा अंकुश स्थानीय आवश्यकताओं के प्रति इसकी संवेदनशीलता होगी। पंचायतों को यह अधिकार होना चाहिए कि सब उपयोगकर्ताओं से, केवल उनको छोड़कर जो परियोजना पर काम करने के लिए न्यूनतम मजदूरी पर लगाए गए थे, स्थानीय सार्वजनिक वस्तु के लिए कीमत या फीस वसूल कर सकें। इसके पीछे मुख्य कारण साम्य नहीं है। इसके जरिए 'निजी' मजदूरी के 'सामाजिक' घटक का विचार भी प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके माध्यम से परियोजना पर काम करने वाले मजदूर धीरे-धीरे अधिकार के तौर पर, अपने ऊपर कृपा के रूप में नहीं, उसकी सेवाओं और उचित कार्यकलाप की मांग करना धीरे-धीरे सीखेंगे। स्वाभाविक तौर पर परियोजना द्वारा सृजित सुविधा का इस्तेमाल करने के लिए कितने लोग भुगतान करते हैं इस बात का अप्रत्यक्ष सूचक होगा कि किस दूर तक वह स्थानीय आवश्यकताओं को वस्तुतः संतुष्ट करती है। पूरी की गई परियोजना के परिसंपत्ति मूल्य के निर्धारण में इसे निर्णायक कारक होना चाहिए।

विभिन्न विकेंद्रीकृत स्तरों पर गरीबों की उत्पादक भागीदारी सहित सभी स्तरों पर जवाबदेही हमारे विकास का नया पथ तैयार कर सकती है। यह हमारे समय की अनिवार्यता और हमारी स्थिति का तर्क है। जिन लोगों का सोच भिन्न है या जिन लोगों का विश्वास है कि मुक्त बाजार का दर्शन भूमंडलीकृत विश्व में हमारे करोड़ों नागरिकों को अवमानवीय निर्धनता के जाल से निकालेगा वे स्वप्न लोक में रह रहे हैं। अंततः उनका स्वप्नलोक ही धराशायी होगा।

संदर्भ और आगे पढ़ने के लिए सामग्री

(पाठक के मार्गदर्शन के लिए संक्षिप्त टिप्पणियों सहित)

1. **स्टैटिस्टिकल आउटलाइन आफ इंडिया,** 2004-2005, टाटा सर्विसेज लिमिटेड डिपार्टमेंट आफ इकानमिक्स एंड स्टैटिस्टिक्स अधिकतर आंकड़ों के लिए एक सुविधाजनक स्रोत प्रदान करता है।
2. **'एंपलायमेंट इन इंडिया, 1977/98 टू 1999/00 कैरेक्टरिस्टिक्स एंड ट्रेंड्स,** लेखक ए. वैद्यनाथन **जर्नल आफ दी इंडियन स्कूल आफ पोलिटिकल इकानमी,** खंड 13, अंक 2, पृ. 217-253 दिलचस्पी रखने वाले विशेषज्ञ को भारत में रोजगार की स्थिति के बारे में अपेक्षाकृत विस्तृत सांख्यिकीय चित्र प्रदान करेगा।
3. **बी. डे लांग का निबंध 'इंडिया सिंस इंडिपेंडेंस :** ऐन एनालिटिकल ग्रोथ नैरेटिव', डी. रोद्रिक (सं.), **इन सर्च आफ प्रास्पेरिटी : एनालिटिकल नैरेटिक्स आन इकानमिक ग्रोथ,** न्यूजर्सी, प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003 एक पठनीय किंतु भारतीय संवृद्धि प्रक्रिया की किंचित शास्त्रीय प्रस्तावना है।
4. **'वोलेटिलिटी इन द स्टाक मार्केट इन इंडिया एंड फारेन इंस्टीट्यूशन इंवेस्टरस :** ए स्टडी आफ पोस्ट इलेक्शन क्रैश', लेखक पी. पाल, **इकानमिक एंड पोलिटिकल वीकली,** फरवरी 19, 2005, पृ. 765-772 एक सूचनात्मक लघु निबंध है जो शेयर बाजार और विदेशी

संस्थागत निवेशकों के परस्पर संबंध के विषय में साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

5. **'फूड एंड न्यूट्रिशन सिक्यूरिटी फार द पुअर एमर्जिंग पर्सपेक्टिव एंड पालिसी इस्यूज',** लेखक आर. राधाकृष्णन, **इकानमिक एंड पोलिटिकल वीकली,** अप्रैल 2005,पृ. 1817-1821 भारत के गरीबों में पोषण की कमी के विषय में छोटी परिमाणात्मक प्रस्तावना प्रस्तुत करेगी।
6. **प्राइवेटाइजेशन इन इंडिया : चैलेंजिंग इकानमिक आर्थोडोक्सी,** लेखक टी. टी. राम मोहन, न्यूयार्क, रूटलेज कर्जन, 2005, तकनीकी, सांख्यिकीय उन्मुख विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इस क्षेत्र में इतने अधिक मिथक बनाए गए हैं कि यह निर्विकार तथ्यात्मक विश्लेषण चिर अपेक्षित स्वच्छ वायु प्रदान करता है।
7. **द स्टेटस आफ पंचायत राज इन द स्टेट्स एंड यूनियन टेरिटरिज आफ इंडिया,** (सं.) जी. मैथ्यू, इंस्टिट्यूट आफ सोशल साइंसेज, नई दिल्ली, 2003, विशेषकर मैथ्यू लिखित प्रस्तावना निबंध 'पंचायत राज इन इंडिया : ऐन ओवरव्यू' अधिकांश पृष्ठभूमि से जुड़ी सूचना देगा। यह व्यापक है, तथा अनेक संबद्ध मुद्दों की चर्चा करता है।
8. **'फिस्कल डेफिसिट एंड गवर्नमेंट डेब्ट :** इंपलिकेशंस फार ग्रोथ एंड स्टेबिलाइजेशन', लेखक सी. रंगराजन और डी. के. श्रीवास्तव, **इकानमिक एंड पोलिटिकल वीकली,** जुलाई 2, 2005, पृ. 2919-2934 भारत के सार्वजनिक वित्त की स्थिति के विषय में मुख्यधारा से जुड़ा निबंध है। चूंकि यह अनुभवजन्य तथ्यों को इस क्षेत्र की मुख्यधारा से जुड़े सिद्धांतों से जोड़ने की कोशिश करता है, इसलिए यह पठनीय है।
9. **'बजट डेफिसिट, सस्टेनिबिलिटी, साल्वेंसी एंड आप्टिमालिटी',** लेखक एम. रक्षित, ए. बागची (सं.) **रीडिंग्स इन पब्लिक फाइनेंस,** नई दिल्ली, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2005, में संबद्ध विषय पर

बड़ी सावधानी से पेश किया गया तर्कपूर्ण लेख है। संबद्ध विषय पर हावी रूढ़िवादिता की तुलना में यह एक अधिक विश्लेषणात्मक लेख है।

10. **इकानमिक एंड पोलिटिकल वीकली** का विशेषांक "आस्पेक्ट्स ऑफ एम्पलॉयमेंट" नवंबर 27-दिसंबर 3, 2004 यहां पर चर्चित अनेक मुद्दों के बारे में पाठक को गहरी समझदारी प्रदान करेगा।

11. **"पॉवर्टी एंड इनिक्वालिटी : ए रिएक्जामिनेशन'**, लेखक ए. डेटन और जे. द्रेज, **इकानमिक एंड पोलिटिकल वीकली,** सितंबर 2002, पृ. 3729-48 पठनीय है।

आर्थिक सिद्धांत से संबद्ध अपेक्षाकृत सामान्य स्तर पर रुचि लेने वाला पाठक निम्नलिखित को पढ़ सकता है :

12. ई. डोमर **'दी इफेक्ट आफ फारेन इंवेस्टमेंट आन द बैलेंस आफ पेमेंट्स', अमेरिकन इकानमिक रिव्यू,** दिसंबर 1950 यह संवृद्धि दर और ब्याज दर के बीच की कड़ी के ऊपर बीज निबंध था। तब से सार्वजनिक ऋण की वहनीयता के विश्लेषण में यह परिणाम जो मूलतः घातीय फलनों या चक्रवृद्धि ब्याज दर की शक्ति को दिखलाता है पसंदीदा विषय रहा है।

13. **'ए पर्सपेक्टिव आन द डेट आफ डेवलपिंग कंट्रीज'**, लेखक आर. सोलोमन, **ब्रुकिंग्स पेपर्स आन इकानमिक एक्टिविटी,** 1977, अंक 1, इस मार्ग पर विश्लेषण को आगे ले जाता है।

14. **ए. भादुड़ी का 'डिपेंडेंट एंड सेल्फ रिलायंट ग्रोथ विथ फारेन बौरोइंग', कैम्ब्रिज जर्नल आफ इकानमिक्स,** खंड 11, अंक 3 दिखलाता है कि अगर ऋण घरेलू नहीं विदेशी है तो ये शर्तें कैसे अधिक सख्त हो जाती हैं। यह निबंध भारत सरकार की 1980 के दशक के लिए निर्यात संबंधी रणनीति के ऊपर समिति के सदस्य के रूप में लेखक की असहमति को औपचारिक आधार प्रदान करने के लिए लिखा गया था। कहना न होगा कि 1991 के विदेशी विनिमय संकट के काफी पहले लिखा गया था।

15. ए. भादुड़ी और एस. ए. मार्गलिन का लेख **'अनएंपलायमेंट एंड द रियल वेज : इकानमिक बेसिस फार कंटेस्टिंग पोलिटिकल आइडियो लोजिज', कैम्ब्रिज जर्नल आफ इकानमिक्स,** 1990, दिसंबर, पृ. 375-393 रुचि रखने वाले पाठकों को इस पुस्तक में प्रस्तुत आधारभूत औपचारिक तर्क प्रदान करेगा। यह आय के वितरण के संबंध में घरेलू और विदेशी बाजार के परस्पर संबंध को विश्लेषणात्मक रूप से प्रस्तुत करता है।

मुद्रक : प्रिन्ट प्रोसेस, नई दिल्ली